एकात्म मानववाद

(भाजपा का मूल दर्शन)

सरल अध्ययन

लेखक डा. विजय कुमार सिन्हा

एकात्म मानववाद

भाजपा का मूल दर्शन

सरल अध्ययन

लेखक : –

डॉ॰ विजय कुमार सिन्हा

भाजपा कार्यालय बिहार प्रदेश

पटना (बिहार)

☐ प्रकाशक :
विजय कुमार सिन्हा
टी० एस० कॉलेज, हिसुआ
नवादा (बिहार)

☐ प्रथम संस्करण-१९९१

मूल्य—५-००

☐ मुद्रक :
कमल प्रिन्टिंग प्रेस
नयाटोला, पटना-८०००४

समर्पण :-

अयोध्या में श्री राम जन्मभूमि-मंदिर निर्माण के लिए शहीद कार सेवकों को, जो विश्व के राम भक्तों को जगाकर स्वयं श्री चरणों में सदा के लिए सो गए।

विजय

दो शब्द

प्रिय बन्धु,

एकात्म मानववाद को भारतीय जनता पार्टी ने अपना मूल दर्शन के रूप में स्वीकार किया है। आपस की नीतियों तथा उसके मूल दर्शन का ज्ञान पार्टी के प्रत्येक कार्यकर्ताओं को होना आवश्यक है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के सपनों का समाज बनाने के लिए इसका पठन और मनन आवश्यक है। इस विचार को आप तक पहुँचाने के लिए कई प्रयास हो चुके हैं। इस पर कई पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी उसी प्रयास का एक अंग है।

इस छोटी-सी पुस्तक में एकात्म मानववाद के उद्देश्य को क्रमबद्ध रूप से रखने का प्रयास किया गया है। साधारण कार्यकर्ता भी इसे समझ सके, इसका पूरा ध्यान रखा गया है। भाषा की सरलता इसकी मुख्य विशेषता है। इसे सरल और सुस्पष्ट बनाने के लिए कई जगहों पर एक ही बात को दुहराने का प्रयास किया गया है। आप यदि एक बार भी इसे पढ़ेंगे तो एकात्म मानववाद के दर्शन को समझ सकेंगे।

लेखक

समर्पण :-

अयोध्या में श्री राम जन्मभूमि-मंदिर
निर्माण के लिए शहीद कार सेवकों
को, जो विश्व के राम भक्तों को
जगाकर स्वयं श्री चरणों में
सदा के लिए सो गए।

विक्रम

विषय-सूची

द: शब्द ....

		पृष्ठ
१.	एकात्म मानववाद क्या है?	१
२.	एकात्म मानववाद की आवश्यकता क्यों?	३
३.	व्यक्ति के विभिन्न अंग तथा उसका पुरूषार्थ	४
	व्यक्ति के चार अंग तथा चार सुख	८
	व्यक्ति के सुखों में अन्तर	१२
	व्यक्ति के चार पुरुषार्थ	१४
४.	समष्टि के अंग तथा पुरुषार्थ	२१
	समष्टि के अंग	२१
	समष्टि के पुरूषार्थ	२४
५.	वर्ण तथा आश्रम व्यवस्था	२९
	वैयक्तिक जीवन की चार अवस्थाएं : आश्रम व्यवस्था ...	२९
	समष्टि के कार्यो का विभाजन :—वर्ण व्यवस्था	३२
६.	परमेष्ठी विचार	३५
७.	पाश्चात्य एवं वामपंथी विचारधारा और एकात्म मानववाद	३९

□

1

एकात्म मानववाद क्या है ?

मानवजीवन तथा सम्पूर्ण प्रकृति के एकात्म-सम्बन्धों का दर्शन ही एकात्म मानववाद है। इसे एकात्म मानव दर्शन भी कहा जाता है। एक ओर तो यह दर्शन व्यक्ति के जीवन का उसके सभी अंगों को ध्यान में रखकर संकलित विचार करता है तो दूसरी ओर यहाँ चराचर सृष्टि का भी उसके सभी अंगों को ध्यान में रखते हुए संकलित अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के पीछे इसका उद्देश्य होता है विश्व राज्य की स्थापना करना। इस प्रयास की प्रथम कड़ी व्यक्ति है। व्यक्ति को संगठित कर ही हम परिवार, समुदाय, राष्ट्र, मानवता और चराचर विश्व को संगठित करने की बात सोच सकते हैं। इसलिए मानव के, समन्वित एवं समग्र विचार के आधार पर विश्व मानवता की स्थापना ही इस प्रयास का लक्ष्य है।

मनुष्य शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का संकलित रूप है। अतः इन चारों अंगों का विकास ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। चारों अंगों के विकास के लिए आवश्यक है कि इनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाए। इसके लिए मनुष्य के चार पुरुषार्थों का विधान किया गया है। ये हैं—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। जिस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा आपस में भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार ये चारों पुरुषार्थ भी एक दूसरे से अलग नहीं हैं। जिस प्रकार शरीर के संचालन के लिए शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा जैसे चारों अंगों का आपसी मेल आवश्यक है, उसी प्रकार एक पुरुषार्थ की साधना के लिए दूसरों की मदद आवश्यक है। तभी मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की तरह समाज या समष्टि की भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। ये हैं—देश (भूमि

तथा जन), सामूहिक संकल्प, धर्म (नियम) और जीवन लक्ष्य। इनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मनुष्य की तरह समष्टि के भी काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष, जैसे चार पुरुषार्थ हैं। इन्हीं के आधार पर समष्टि भी अपना लक्ष्य प्राप्त करता है।

इस दर्शन में एक ओर जहाँ मनुष्य के चारों अंगों तथा उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक चारों पुरुषार्थों का संकलित अध्ययन किया गया है, तो दूसरी ओर समष्टि के भी चार अंग और चार पुरुषार्थों को प्रतिपादित कर तथा उनका भी संकलित विचार कर मनुष्य और समाज यानि व्यष्टि और समष्टि में एकात्म सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इतना ही नहीं, व्यष्टि और समष्टि की इस एकात्मता के आधार पर परमेष्ठी से भी तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

यहाँ एक बात का ज्ञान आवश्यक है कि एकात्म मानववाद कोई-वाद या सिद्धान्त नहीं है। यह तो मानवता तथा विश्वमानवता में एकात्म सम्बन्ध का दर्शन है। इसका उद्देश्य है दोनों के इस एकात्म-सम्बन्ध के आधार पर सनातन सत्य का ज्ञान प्राप्त करना।

यह एकात्मदर्शन शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त-दर्शन का अनुसरण -सा लगया है। अद्वैत वेदान्त-दर्शन परम ब्रह्म की प्राप्ति को कठिन तथा सामान्य व्यक्तियों के लिए असुलभ समझकर पहले सगुण ब्रह्म (ईश्वर) की अराधना की बात करता है। ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। ऐसी सत्ता का ज्ञान एकाएक कठिन है। इसीलिए इस ज्ञान के पूर्व एक साकार और सगुण ब्रह्म की स्थापना की गई है। सगुण और साकार ब्रह्म का ज्ञान अपेक्षाकृत आसान है। इस ज्ञान के आधार पर निर्गुण और निराकार ब्रह्म (जो परमसत्य है] का ज्ञान सुलभ हो जाता है। इसी प्रकार सनातन-धर्म और उसका ज्ञान कठिन है। उसे सरल और सुलभ करने के लिए पहले एकात्मक मानव-दर्शन का ज्ञान आवश्यक है।

२

एकात्म मानववाद की आवश्यकता क्यों ?

व्यक्ति तथा समाज के सुख, उत्कर्ष एवं चतुर्दिक विकास की कल्पना हर राष्ट्र के लिए आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक राष्ट्र का उनकी परिस्थितियों के अनुकूल सामाजिक, नैतिक राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक विचारधाराएँ होती हैं। इन विचारधाराओं के माध्यम से ही व्यक्ति या राष्ट्र के चरित्र का निर्माण तथा उसका चतुर्दिक विकास संभव है।

मुगलकाल तथा अंग्रेजों की गुलामी के कारण हमारा राष्ट्र अपनी संस्कृति, अपना धर्म, अपनी रीति, अपना रिवाज, वेश-भूषा, अपनी राज्य-व्यवस्था आदि को लगभग खो चुका था। हम पूर्णरूपेण हिन्दुस्तानियत को तो नहीं भूले थे, परन्तु हम पर पाश्चात्य विचारधाराओं का नशा सवार हो गया था। ऐसी स्थिति में हमें एक अपनी अर्थनीति, राजनीति, धर्मनीति की आवश्यकता थी, जो हिन्दुस्तान की प्रवृत्ति और प्रकृति से मेल खाए। हमें एक ऐसा दर्शन चाहिए था, जो हमें मानवता और विश्वमानवता में तादात्म्य सम्बन्ध बता कर सनातन सत्य को प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर सके

ऐसी बात नहीं है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय किसी ने इस दिशा में प्रयास नहीं किया है। गाँधी जी ने 'हिन्द-स्वराज्य' तथा लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' लिख कर हमारे सामने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारत का मानचित्र खींचा था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस या अन्य राजनैतिक दलों ने भी अपने अधिवेशनों में इस विषय पर प्रस्ताव पारित किया था। परन्तु, उस समय हिन्दुस्तान का एक मात्र उद्देश्य था— स्वतन्त्रता की प्राप्ति। इसीलिए इस विषय पर गम्भीर चिन्तन नहीं

सका था। देश को आजाद होने के बाद भारत किस रास्ते पर चले ? प्रश्न गम्भीर हो गया। कुछ राजनेताओं का तर्क था कि हम पाश्चात्य की अच्छी दवाओं का भरपूर प्रयोग करते हैं तो फिर उसकी अच्छी नीतियों को अपनाने में क्या गतिरोध है। यह भी सत्य है कि आजादी के समय पाश्चात्य नशा हमारे समाज को काफी प्रभावित कर रहा था। समाज उसी धारा में बहना चाह रहा था।

परन्तु पाश्चात्य सिद्धान्तों को ओर झाँकने पर हमें उसे अपनाने में कई कठिनाइयाँ थीं। एक तो यह सिद्धान्त हमारे देश की प्रकृति के प्रतिकूल था, दूसरे इसमें स्थायित्व का भी अभाव था। पश्चिम के वैचारिक मंच पर सर्वप्रथम धार्मिक अधिसत्ता कायम हुआ। ईसाई धर्म का प्रमुख रोम के पोप ने यूरोप के सभी आठ राज्यों पर अधिसत्ता कायम कर लिया था। सम्पूर्ण ईसाई जगत् में पोप का शासन चलता था। धीरे-धीरे लोग यह समझने लगे कि पोप हमें भगवान् से दूर रखता है। भक्त और भगवान् के बीच पोप जैसे धर्म गुरू की मध्यस्थता अनावश्यक समझी जाने लगी। इससे प्रोटेस्टेंट आदि विचारधाराओं का जन्म हुआ। फिर, यह भी महसूस होने लगा कि राजसत्ता के मामले में तो नहीं ही, धर्म के मामले में भी दूसरे देश के धर्माधिकारी पोप का हस्तक्षेप क्यों स्वीकार किया जाए। पोप के खिलाफ विद्रोह हुआ, जिससे पोप की सत्ता समाप्त हो गई। राजा का शासन हुआ और राष्ट्रवाद की जीत हुई।

पोप की सत्ता तो समाप्त हो गई। परन्तु पाश्चात्य राष्ट्रों में कुछ ही समय बाद राज्यसत्ता शक्तिशाली हो गई। पोप के समय में राजा मात्र शासन या सत्ता का प्रधान होता था। परन्तु पोप के हटने के बाद उसे शासन-शक्ति के साथ-साथ धर्मशक्ति भी प्राप्त हो गई। दोनों शक्तियों को प्राप्त कर राजा निरंकुश और बर्बर हो गया। वह प्रजा पर कहर ढाने लगा। राजा का विरोध हुआ। इस विचारधारा को बल मिलने लगा कि राजसत्ता का अधिकारी जनता है न कि राजा। राजा और प्रजा में संघर्ष हुआ। खूनी क्रान्तियाँ होने लगीं। फलस्वरूप इंगलैंड की रक्त-हीन क्रान्ति, अमरीकी क्रान्ति तथा फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति, जैसी सामा-

जिक क्रान्तियां हुई क्रान्तियों के फलस्वरूप आगे चलकर जनतन्त्र की स्थापना हुई। जनतन्त्र में जनता को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्वतन्त्रता के साथ-साथ अवसर की समानता का लाभ भी प्राप्त हुआ। इसका फायदा उठाकर भारी-भरकम कल-कारखाने खुलने लगे। कारखानों के द्वारा पूँजी केन्द्रित होने लगी। इससे औद्योगिक पूँजीवाद ने जन्म लिया। यहाँ छोटे-छोटे कारीगरों को परेशानी का सामना करने को विवश होना पड़ा। श्रमिकों में असंतोष की भावना प्रबल हो गई। सामाजिक क्रान्ति और वर्ग-विद्वेष की भावना जोर पकड़ने लगी। औद्योगिक पूँजीवाद के विरुद्ध इस जंग ने कार्ल मार्क्स सरीखे विचारक सामने आये। समाजवाद की स्थापना हुई। मार्क्सवाद ने जिस समाजवाद की स्थापना की वह भौतिक समाजवाद था। यह मार्क्स के द्वन्द्ववाद पर आधारित था। यहाँ एक बात जान लेना चाहिए कि मार्क्स ने गरीबोत्थान के लिए जिस द्वन्द्ववाद का सहारा लिया, वह जर्मन दार्शनिक हीगेल का था। परन्तु, हीगेल का द्वन्द्ववाद भी शंकराचार्य के दर्शन पर आधारित है। शंकर और हीगेल के दर्शन में मानवता की शिक्षा मिलती है। परन्तु, मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद में मानवता को छोड़ दिया और उसके स्थान पर भौतिकता का सहारा लिया। इसीलिए इनका दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हो गया जो हीगेल और शंकर के विचार से भिन्न हो गया। इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचार के कारण मार्क्स के समाजवाद को भौतिक समाजवाद की संज्ञा दी गई। इस समाजवाद को श्रमिकों के साथ-साथ समाज के बुद्धिजीवी वर्ग का भी समर्थन मिला। यहाँ एक प्रकार से वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो गई।

परन्तु, वर्ग-विहीन समाज की शासन-प्रणाली भी उस समय चरमराने लगी जब जनता के मन में यह बात घर करने लगी कि यह शासन-प्रणाली शोषितों की नहीं है। इस पर तो कुछ गिने-चुने पदाधिकारियों तथा उनके खास दल का ही आधिपत्य है।

रूसी क्रान्ति के कोई ५० वर्ष के अन्तराल में ही कम्युनिज्म की विचारधारा में टूटन प्रारम्भ हो गया। एक दूसरे कम्युनिस्टिक देश आपस में सिद्धान्तों को लेकर झगड़ने लगे। चीन ने रूस को पथभ्रष्ट कहा

ो रूस ने चीन को पथभ्रष्ट और संशोधनवादी की संज्ञा दी। युगोस्लाविया अपने को अपेक्षित साम्यवादी देश समझने लगा। चीन और रूस दोनों ही इसके आलोचक बन गये। डांगे, नम्बुदरीपाद, चारुमजुमदार, आदि बामपंथी नेताओं में आपस में सिर फुटौवल शुरू हो गई। वर्तमान समय में रूस, चीन, जर्मनी आदि देशों की जो स्थिति है, उससे भी साम्यवादी शासन-पद्धति की पूर्व की स्थिति का आभास होता है।

इस प्रकार, पश्चिम में पनपे विभिन्न विचारधाराओं पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि यहाँ का कोई भी विचार भावात्मक दृष्टि से स्थापित नहीं किया गया है। पाश्चात्य विचार में यह कहीं भी देखने को नहीं मिलता है कि किसी भी विचारक के दिमाग में एक विचार आया जिसका कि प्रतिपादन हुआ। सर्वथा यह देखने को मिलता है कि किसी दूसरी विचारधारा की असफलता की प्रतिक्रिया स्वरूप ही नयी विचारधारा का जन्म हुआ है। प्रतिक्रिया में प्रतिपादित सिद्धान्त स्थायी नहीं होता। यह तो परिस्थिति बदलते ही धराशायी हो जाता है। पहले तो विपरीत परिस्थिति आने पर संघर्ष होता है फिर संघर्ष के फलस्वरूप नयी विचारधारा का जन्म होता है। फिर, पाश्चात्य विचारधारा सर्वव्यापी और पूर्ण भी नहीं होती है। इसमें असंगति भी दीख पड़ती है। जब हम फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति की ओर देखेंगे तो पता चलेगा कि इसकी जड़ में तीन विचार थे - स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता। सामन्जस्यता या संगति के अभाव में स्वतन्त्रता और समता एक दूसरे के विरोधी बन गये। फलस्वरूप, इन दोनों के मेल के अभाव में बन्धुत्व की भावना भी मृतप्राय हो गई। इसी प्रकार कम्युनिस्टिक आन्दोलन भी अपना उद्देश्य पूर्ण करने के पहले ही ठंडा पड़ गया।

ऐसी अवस्था में जबकि पाश्चात्य तथा कम्युनिस्टक व्यवस्था समाज को स्थायी, सामन्जस्यपूर्ण तथा राष्ट्र की प्रकृति के अनकूल व्यवस्था नहीं दे सकी, हमें एक ऐसी सामाजिक-व्यवस्था की आवश्यकता है जो व्यक्ति और समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र में पूर्ण समन्वय स्थापित करे। वह प्रत्येक व्यक्ति को एक सुसंगठित मानव बना कर विश्वमानवता से

उसका एकात्म-सम्बन्ध स्थापित करे। प्रत्येक राष्ट्र को अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल विकास करने की छूट दे। गाँधी जी ने 'स्वराज्य' का नारा दिया था। परन्तु आज तक कोई भी सिद्धान्त ऐसा नहीं बन सका जो 'स्व' के सांगोपांग विकास का मार्ग प्रशस्त करे, वह 'स्व' की भावना के अन्तर्गत विश्वमानवता को जागृत करे।

दीनदयाल जी ने इसकी आवश्यकता महसूस की तथा दुनियाँ के सामने मानवता और विश्वमानवता के एकात्म-सम्बन्ध के विचार को रखा। वे जानते थे कि व्यक्ति को असंगठित छोड़कर विश्व का संगठन बेकार होगा। व्यक्ति को चरित्रवान बनाकर, उसे सुसगठित कर, उसमें राष्ट्रीयता की भावना भरकर ही एक चरित्रशील, सुसंगठित समाज का निर्माण किया जा सकता है। इसके द्वारा आगे चलकर हम सनातन धर्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जो विचारक व्यक्ति को छोड़कर विश्व को ठीक करने की बात करते हैं उनके सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण देखकर स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के आधार पर विश्व को संगठित करने वाली व्यवस्था ही उचित है। एकबार एक पिता ने अपने पुत्र को कई टुकड़ों में फटा हुआ विश्व का मानचित्र जोड़ने को दिया। लाख प्रयत्न के बाद भी पुत्र उसे जोड़ नहीं पाया। कारण वह सीधे विश्व का मानचित्र जोड़ने का प्रयास कर रहा था। वह परेशान बैठा था। अचानक हवा का झोंका आया जिससे मानचित्र का फटा टुकड़ा आपस में जुट गया। फलस्वरूप, पुत्र देखता है कि विश्व का मानचित्र तो नहीं जुटा लेकिन एक मानव की आकृति सामने बन गई। कौतूहल वश उसने उस मानव की आकृति को साट डाला। उलट कर देखता है तो उधर विश्व का मानचित्र जुटा हुआ है। एकात्मक मानव दर्शन इसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का परिचायक है।

□

3

व्यक्ति के विभिन्न अंग तथा उसका पुरुषार्थ

व्यक्ति के चार अंग या चार सुख :

व्यक्ति के चार अंग होते हैं—शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा। इन चारों अंगों से हमें चार प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है। शरीर का सुख, मन का सुख, बुद्धि का सुख तथा आत्मा का सुख। यहाँ हम इनपर विचार करेंगे।

(क) **शरीर का सुख**—शरीर मनुष्य का एक अंग है। इसके द्वारा प्राप्त सुख ही शरीर का सुख कहलाता है। मानव शरीर के अन्दर कुछ इन्द्रियां होती है इन इन्दियों के द्वारा प्राप्त सुख ही शारीरिक सुख कहलाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न विषय भोगों की पूर्ति, इच्छाओं तथा वासनाओं की तृप्ति का सुख आता है। इसके अतिरिक्त भौतिक पदार्थों यथा — रेडियो, टी० वी०, सिनेमा, कार, उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्र, आदि के द्वारा प्राप्त सुख भी शाररिक सुख के अन्तर्गत ही आता है।

अधिकांश व्यक्ति इन शारारक सुखों को ही सुख मानते हैं। इनके अतिरिक्त सुख की कोई और कल्पना उनके पास नहीं होती है। शारीरिक सुख सुखदायक तो है, परन्तु यह निम्न-स्तर का सुख है। इनके अतिरिक्त भी मन, बुद्धि तथा आत्मा का सुख है, जो शरीर के सुख से उच्च स्तर का है।

(ख) **मन का सुख**—मन का सुख शारीरिक सुख से उत्तम कोटि का है। यदि कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करता है, तो उसे शाबासीदी

जाती है। सुरीला संगीत सुनने पर भी एक प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। इसी प्रकार बच्चों की तोतली बोली, फूलों की सुगन्ध, प्रेमियों के पत्र, सम्मान प्राप्ति, आदि से प्राप्त सुख मन का सुख कहलाता है।

यह सुख साम्यवादियों को रोटी के सिद्धांत को खंडित करता है। साम्यवाद रोटी को अपना उद्देश्य मानता है। चाहे वह जिस प्रकार से और जैसे भी प्राप्त हो। यह रोटी चोरी की भी हो सकती है तथा अपमानित भी। कम्युनिष्टों के लिए सब क्षम्य है। परन्तु, एकात्म मानव-दर्शन परिश्रम के द्वारा प्राप्त की गई रोटी में ही विश्वास करता है। यहाँ एक घटना की चर्चा आवश्यक है। एक बार एक कम्युनिस्ट नेता अपने एक मित्र के यहाँ पहुँचा। मित्र कम्युनिस्टों को रोटी की आचार संहिता को नापसंद करता था। कम्युनिस्टों नेता का रोटी पर भाषण शुरु हो गया। वह सभी चीजों में एक मात्र महत्वपूर्ण चीज रोटो को बतला रहा था। रोटी की प्राप्ति के लिए हर कुकर्म और सुकर्म क्षम्य है। कम्युनिस्ट का रोटो पर भाषण सुनकर मित्र ने उसे सबक सिखाने को सोचा। उसने उसे दावत पर बुलाया। मनपसन्द भोजन कराने के बाद चलते वक्त मित्र दरवाजा पर चप्पल निकाल कर उसे हाथ में लेकर खड़ा हो गया। यह देखकर कम्युनिस्ट बड़ा हैरत में पड गया। पूछा, अरे ! यह क्या कर रहे हो ? इतनी अच्छी रोटी खिला कर बेइज्जत कर रहे हो ? मित्र मुस्कुरा कर बोला तुम्हें तो सिफ रोटी चाहिए चाहे वह जैसी भी हो। मैंने रोटी इस कीमत पर खिलायी थी कि खाने के बाद तुम्हें चार चप्पल लगायेंगे। इसलिए चप्पललगाने दो।कम्युनिस्ट नेता अवाक रह गये। यहाँ उन्हें अपनी रोटी के सिद्वान्त में कमजोरी दिखाई पड़ने लगी। अतः मर्यादा या सम्मान हर कार्य के लिए आवश्यक है।

(ग) बुद्धि का सुख – यह सुख मन से भी उच्चश्रेणी का सुख है। कभी-कभी परीक्षा भवन में कोई ऐसा प्रश्न मिलता है जिसका हमें स्मरण नहीं रहता। कुछ देर बाद एकाएक हमें उस प्रश्न का उत्तर स्मरण हो आता है। हमें यहाँ एक प्रकार के सुख को अनुभूति होती है। यह बुद्धि का सुख है। इसके अतिरिक्त शतरंज की अनसुलझी चाल को

सुलझाना। श्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थ को पढ़ना, गणित का कोई विस्मृत फार्मूला का स्मरण होना, आदि से प्राप्त सुख बुद्धि का ही सुख है। इसी प्रकार विश्व क्या है ? इसके निर्माता कौन है ? आत्मा क्या है ? ईश्वर क्या है ? आदि प्रश्नों के समाधान से प्राप्त सुख भी बुद्धि का सुख है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आर्किमेडिज के उत्प्लावन के सिद्धान्त की खोज तथा न्यूटन के पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त की खोज से उन्हें प्राप्त सुख बौद्धिक सुख ही कहलायेगा।

(घ) **आत्मा का सुख**—आत्मा-सुख सर्वोपरि सुख है। आत्मा भी मानव का एक अंग है। परन्तु, अनेक विचारकों ने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। उनके अनुसार मनुष्य तो पूर्ण रूप से जड़ या भौतिक पदार्थों से बना है। इसमें आत्मा जैसी चेतन सत्ता का स्थान नहीं है। परन्तु, भारतीय दर्शन में तो आत्मा को एक चैतन्य सत्ता कहा गया है जिसका विनाश नहीं होता है। जब तक मनुष्य के शरीर में यह वर्त्तमान रहती है, मनुष्य जीवित रहता है। परन्तु, शरीर से आत्मा को निकलते ही मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। आत्मा से भी हमें एक प्रकार का सुख की प्राप्ति होती है, इसे आत्मसुख कहते हैं। यह सुख आत्मा और ईश्वर के बीच साक्षात्कार का सुख है। आत्मा समझती है कि मैंने ईश्वर को प्राप्त कर लिया है। ईश्वर और मुझमें तादात्म्य संबंध स्थापित हो गया है। मैं,' 'हम', 'तुम', 'वह' आदि शब्द शरीर में आत्मा का संबोधन है। इन शब्दों से हमें मनुष्य के अन्दर आत्मा की झलक मिलती है।

आत्म-सुख प्राप्ति की एक प्रक्रिया होती है। मनुष्य पहले तो शरीर, मन और बुद्धि को सब कुछ समझता है। फलस्वरुप इन सबों से प्राप्त सुख ही मनुस्य का सुख समझा जाता है। इस समय हमें आत्मा का ज्ञान नहीं रहता है। परन्तु, एक समय ऐसा, आता है जब मनुष्य समझता है कि मैं शरीर, मन और बुद्धि ही नहीं हूं, अपितु इन सबों के अतिरिक्त एक चेतन सत्ता आत्मा ही मेरा वास्तविक स्वरुप है। इसे आत्मा का ज्ञान या आत्म-ज्ञान कहते हैं। आत्म-ज्ञान से ही आत्म-सुख की प्राप्ति

होती है। आत्म-ज्ञान हो जाने के बाद दूसरी अवस्था में हमें यह महसूस होने लगता है कि जो आत्मा मुझमें है वह मात्र मुझमें ही नहीं अपितु संसार के सभी प्राणियों में भी है। इस अवस्था में संसार के सभी प्राणियों में आत्मा की एकता कायम होती है। ऐसा लगता है कि जो आत्मा मुझमें है वह मात्र मुझमें ही नहीं, बल्कि संसार के सभी जीवों में है।

यहाँ एक शंका स्वाभाविक है। भारतीय दर्शन ने तो आत्मा को एक कहा है, परन्तु यहाँ संसार के प्रत्येक प्राणियों में उसकी सत्ता बतला कर उसे अनेक बना दिया गया है। यह विरोधाभास कैसा ? इस शंका का समाधान अद्वैत-वेदांत दार्शनिक शंकराचार्य की एक उपमा से किया जा सकता है। चाँदनी रात में हम अनेक बर्तनों में जल भर कर उसे खुले आकाश में रखते हैं। देखने पर उन सबों में चन्द्रमा की आकृति दिखाई पड़ती है चन्द्रमा तो एक है, परन्तु अनेक बर्तनों में अनेक आकृतियाँ कैसे दीख पड़ती हैं ? इस प्रकार एक ही चन्द्रमा को हम अनेक देखते हैं। परन्तु सच तो यह है कि चन्द्रमा एक है। ठीक इसी प्रकार आत्मा है। हम सब प्राणियों में उसकी आकृति दिखाई पड़ती है। हम सबों में उसी एक परमात्मा (जिसे अद्वैत दर्शन ब्रह्म भी कहता है) का अंश है। इसके बाद स्वाभाविक रूप से हमें ज्ञान हो जाता है कि जिस परमात्मा की बात कर रहा हूं, वह मैं ही हूँ। इस प्रकार, यहाँ 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान हो जाता है। यही अद्वैत दर्शन का मूलमंत्र है। यहाँ पर संसार के सभी मनुष्य एक ही आत्मा के सूत्र में बँध जाते हैं। यही एकात्म-दर्शन है।

+

व्यक्ति के सुखों में अन्तर

मनुष्य के चार अंगों से प्राप्त चतुर्दिक सुखों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि शरीर का सुख क्षणिक होता है। यह जितनी आसानी से प्राप्त होता है, उतनी ही तेजी से समाप्त भी हो जाता है। जैसे— यौन सम्बन्धी सुख, क्षुधा तृप्ति का सुख, सन्तानोत्पत्ति का सुख, सिनेमा का सुख, आदि। परन्तु इसके विपरीत मन, बुद्धि तथा आत्मा का सुख दीर्घ-कालीन या ज्यादा समय तक टिकने वाला होता है। आत्मा का सुख तो एक बार प्राप्त हो जाने के बाद स्थायी बना रहता है।

दूसरे, शारीरिक सुखों की भूख स्वतः जगती है। इसे जगाने के लिए कोई खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। परन्तु दूसरे वर्ग के सुखों की भूख को जगाना पड़ता है। इसके लिए प्रयत्न भी अत्यधिक करना पड़ता है। आत्म-सुख के लिए तो कठिन साधना की आवश्यकता पड़ती है। तीसरे, शारीरिक सुख की प्रवृत्ति तो पशुओं में भी पाई जाती है। उनके भी वासनात्मक कार्य होते हैं; वे भी क्षुधा तृप्ति करते हैं। उन्हें भी सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है। परन्तु दूसरे वर्ग के सुखों की प्राप्ति या अनुभूति मात्र मनुष्य को ही होती है। पशु वर्ग की समझ से यह बाहर की बात है।

मानवीय सुखों के उपर्युक्त अन्तरों को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि शारीरिक सुख बिल्कुल निम्न कोटि का सुख है। दीनदयाल जी ने स्पष्ट कहा है कि मानव के उत्थान का क्रम नीचे से ऊपर अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म की ओर होता है। इस क्रम में शरीर का सुख प्राप्ति की पहली कड़ी है। प्रारम्भ में मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह भौतिक सुखों के पीछे दौड़े बाद में जब वह उसके रसास्वादन से थक जाता है तब इन सुखों के प्रति उसे निराशा होती है। तब, उसमें मन के सुखों की प्राप्ति की भावना जगती है। मन के सुखों

की प्राप्ति के बाद वह बुद्धि का सुख प्राप्त करता है। अन्त में सभी सुखों को छोड़ वह आत्म-सुख की प्राप्ति में लग जाता है। वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है। उस आत्मज्ञान को पाते ही मनुष्य परम आत्मा की प्राप्ति कर लेता है। यहाँ उसे परमानन्द की अनुभूति होती है। अब वह उस अवस्था में पहुँच जाता है जहाँ से पूरा विश्व एक और अपना दिखाई पड़ने लगता है। मानवता की आत्मा विश्व मानवता की आत्मा में विलीन हो जाती है। अनेकता मिट जाती है और चराचर विश्व का 'एकात्म'-दर्शन होता है।

□

व्यक्ति के चार पुरुषार्थ

व्यक्ति को उसके चारों सुखों की प्राप्ति सही ढंग से हो, इसके लिए भारतीय आचार-शास्त्र ने कर्त्तव्य के रूप में चार पुरुषार्थों को अपनाने की सलाह दी है। ये चार पुरुषार्थ हैं—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। इनपर हम यहाँ विचार करेंगे।

(क) काम पुरुषार्थ—साधारणतः 'काम' का अर्थ स्त्री और पुरुष का समागम ही समझा जाता है। परन्तु यह विचार गलत है। स्त्री-पुरुष समागम तो काम है ही, इसके अतिरिक्त भी काम पुरुषार्थ का दायरा है। काम का अर्थ क्षुधा होता है। क्षुधा वासनात्मक और नैसर्गिक तो होती ही है इसके साथ-ही-साथ यह आध्यात्मिक भी होती है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की अपनी-अपनी क्षुधाएँ होती हैं जिनकी तृप्ति होने पर मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है। इन्हीं क्षुधाओं को काम पुरुषार्थ कहा गया है। काम पुरुषार्थ मनुष्य को कर्म करने को प्रेरित करता है। मनुष्य के मन में उत्पन्न होनेवाली नाना प्रकार की कामनाएँ, इच्छाएँ तथा आकांक्षाओं की पूर्ति काम पुरुषार्थ में ही होती है।

हमें यह जानना चाहिए कि काम मन का एक विशेष गुण है। मन तो चंचल है। यही कारण है कि वह विषय-वासना, भोग-विलास आदि के पीछे इन्द्रियों को दौड़ाते रहता है। यहाँ इन्द्रियों की तुलना रथ के घोड़ों से की गई है जिसका सारथी मन है। मन के हाथ में घोड़ों की लगाम है। वह जिधर और जब चाहेगा उधर उसी समय काम रूपी घोड़ों को दौड़ा देगा। परन्तु, अनिष्ट तो तब होता है जब मन इन्द्रियों को गलत मार्ग पर ही दौड़ाता रहता है। सदा विषय-वासना में लिप्त रहता है। इससे इन्द्रियां मन के वश से बाहर चली जाती हैं। मन इन्द्रियों का दास बन जाता है। परन्तु इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए अपने प्रगति पथ पर बढ़ने वाला मन ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति धर्म के आधार पर की गई क्षुधा पूर्ति

या काम साधना से ही संभव है। धर्म विहीन क्षुधापूर्ति मनुष्य की प्रगति के पथ पर बढ़ने में बाधक होती है।

(ख) अर्थ पुरुषार्थ काम पुरुषार्थ की पूर्ति के लिए साधनों को जुटाना अर्थ पुरुषार्थ का कार्य है। 'अर्थ' का प्रयोग यहाँ भी उसी अर्थ में किया गया है जिस अर्थ में अर्थशास्त्र में। अर्थ का प्रयोग यहाँ साधन के रूप में किया गया है। परन्तु सभी प्रकार के साधनों को हम अर्थ पुरुषार्थ के अन्दर नहीं ला सकते हैं। उन्हीं साधनों को अर्थ कहा जाएगा जो मानव अर्जित या मानव निर्मित हो। प्राकृतिक वस्तुओं को अर्थ नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि इनकी प्राप्ति के लिए हमें परिश्रम नहीं करना पड़ता है। अर्थ उन्हीं वस्तुओं या साधनों को कहेंगे जिसको प्राप्त करने के लिए हमें परिश्रम करना पड़े। अतः पश्रिम द्वारा प्राप्त साधन या वस्तु ही अर्थ कहलायेगा।

अर्थ दो प्रकार के होते हैं—मुख्य अर्थ और गौण अर्थ। मकान, भूमि, पशुधन, वस्त्र, अन्न, आदि मुख्य अर्थ है। क्योंकि ये जीवन के लिए अति आवश्यक साधन हैं। दूसरी ओर पसा, आभूषण, कार. रेडियो, आदि गौण अर्थ हैं। क्योंकि इसके बिना भी जीवन-यापन किया जा सकता है। स्पष्ट है कि हमारी आवश्यक आवश्यकता की वस्तुएं मुख्य अर्थ में आती हैं तथा आराम और विलासिता सम्बन्धी वस्तुएँ गौण अर्थ कही जाती हैं।

अर्थ की प्राप्ति के लिये आजीविका का होना आवश्यक है। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने से अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती है। और यदि हो भी जाती है तो यह पाप की कमाई होगी। इसे अर्थ नहीं कहा जाएगा। आजीविका प्राप्ति के समय ध्यान रखना चाहिए कि यह सुरुचि पूर्ण हो। सुरुचि पूर्ण आजीविका से मनुष्य को अर्थोपार्जन में आनन्द आता है। जैसे एक चिकित्सक को चिकित्सा कार्य में आनन्द आता है। परन्तु, उसे कृषि का कार्य दे देने पर परेशानी होगी। आजीविका में यह भी ख्याल करना चाहिए कि यह किसी व्यक्ति की

कृपा पर तो नहीं है। कृपापात्र आजीविका यथा तुष्टिकरण के लिए दी गई नौकरी, बिना काम लिए वेतन देना, आदि कृपा दान हैं। इससे प्राप्त रोटी और भिखारी की रोटी में कोई खास अन्तर नहीं होता है। इसलिए इसे त्याज्य माना गया है। सम्मान और परिश्रम से प्राप्त किया गया अर्थ को ही पुरुषार्थ माना गया है। इससे व्यक्ति का नैतिक बल ऊँचा रहता है।

अर्थ पुरुषार्थ की चर्चा करते समय हमें अर्थ के अभाव और प्रभाव का भी ख्याल रखना होगा। ये दोनों स्थितियाँ मनुस्य को अपने कर्त्तव्य पथ पर बढ़ने में बाधक सिद्ध होती हैं। अर्थ केअभाव का मतलब है धन की कमी। हमें धन की इतना कमी नहीं होनी चाहिए कि दिन खायें तो रात की चिन्ता रहे और रात खायें तो दिन साफ हो जाए। इससे मनुस्य को अपने लक्ष्य मार्ग पर बढ़ने में कठिनाई उत्पन्न होती है। दूसरी ओर हमारे पास इतना भी अर्थ का भण्डार नहीं रहना चाहिए जो कि हमारी आवश्यकता से कई गुणा अधिक हो। इस स्थिति में भी उसे सुख नहीं मिलता है। पहली स्थिति में मनुष्य खाना बिना मरता है, तो दूसरी स्थिति में खाते-खाते मरता है। पहली स्थिति हाय पैसा की रहती है तथा दूसरी स्थिति पैसा कैसे बचाने की। इसलिए पैसा इतना भर ही होना चाहिए जिससे हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो सके।

"साईं इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय,
मै भी भूखा ना रहूँ साधू न भूखा जाए।" (कबीर)

या गाँधी जी का अपरिग्रह-आदर्श इसी बात पर बल देता है। इसलिए सम्मान जनक, परिश्रम द्वारा प्राप्त संतुलित अर्थ ही हमें चाहिए। ऐसा अर्थ धर्म के प्रभाव से ही प्राप्त किया जा सकता है। अत; धर्म के आधार पर प्राप्त अर्थ ही अर्थ पुरुषार्थ कहलायेगा।

(ग) धर्म पुरुषार्थ धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है। काम और अर्थ की साधना धर्म के अनुसार करने पर उसकी प्राप्ति सुखदायक होती है। वे व्यक्ति के विकास में सहायक होकर अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

सामान्यतः धर्म का अर्थ लोग पूजा, पाठ, नमाज या फिर वस्तुओं के गुणधर्म, मातृ-पितृ धर्म, आदि समझते हैं। परन्तु इन सबों को धर्म नहीं कहा जा सकता है। ये तो कर्मकाण्ड के अंग हैं। धर्म की परिभाषा में कहा गया है 'धर्मो धारयते प्रजाः'। धर्म आधारभूत सिद्धान्तों के नियमों, भावनाओं तथा व्यवस्थाओं का समावेश है जिससे व्यक्ति और समाज का भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सके। ऐसा धर्म हमारे जीवनलक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होगा।

काम और अर्थ पुरुषार्थों पर नियंत्रण रखने का काम धर्म का ही है। इन दोनो पुरुषार्थों में मित्रता होती है। काम की साधना के लिए अर्थ की आवश्यकता होता है। फिर, गलत तरीके से अर्थोपार्जन के बाद व्यक्ति भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए काम में अतिलिप्तता और अर्थ के प्रभाव को रोकने के लिए धर्म का अनुसरण आवश्यक है। मनुष्य अपना जीवन-लक्ष्य को तभी प्राप्त कर सकता है जबकि उसका शरीर, उसका मन और उसकी बुद्धि सुदृढ़ हो। इनकी सुदृढ़ता और सक्षमता तभी संभव है जब इनके कार्य धर्म के अनुसार हो। व्यक्ति को यह पहचानने की क्षमता हो कि कौन वस्तु या कार्य उचित है और कौन अनुचित। उसे नित्य-अनित्य, श्रेय-अश्रेय, ग्राह्य-अग्राह्य, भोज्य-अभोज्य, कार्य-अकार्य, सत्य-असत्यआदि में अन्तर करने की क्षमता होनी चाहिए। इसके बाद शुभ और उचित वस्तुओं या कार्यों को अपनाने और अशुभ या अनुचित को त्यागने का संकल्प लेना चहिए। इस प्रकार, धर्म हमें शरीर, मन तथा बुद्धि को उचित मार्ग पर ले जाने का रास्ता दिखाता है जिससे चरमलक्ष्य की प्राप्ति हो सके।

अधिकांश लोग धर्म और पंथ में अन्तर करना भूल जाते हैं। फलतः वे धर्म के स्थान पर पंथ और पंथ के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग कर बैठते हैं। परन्तु, धर्म और पंथ में अन्तर है जिसे हमें समझना चाहिए।

धर्म का क्षेत्र पंथ के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, आदि पंथ या सम्प्रदाय हैं जो आपस में अलग-अलग हैं। परन्तु, इन सबों का धर्म एक है। वह है हिन्दू धर्म। पंथ के एक प्रवर्त्तक होते हैं। उसका कोई एक ग्रंथ होता है। कुछ निषिद्ध बातें होती है। यह देश और काल की परिधियों में बंधा होता है देश – काल की परिधि से बाहर जाने पर पंथ का स्वरूप बदल जाता है। इसका निर्माण किसी विशेष जनसमूह के परिवेश में होता है। यह ईश्वर तक पहुँचने का एक मार्ग है। इसलिए पंथ को धर्म कहना गलत है। पंथ और धर्म के अन्तर को नहीं समझने के कारण ही कुछ लोग पंथ के गलत नियमों को भी धर्म के साथ जोड़ देते हैं, जिससे धर्म बदनाम होता है। अस्पृश्यता (छुआछूत) का पालन कई पंथों में अनिवार्य माना गया है। लोग इसके पालन का प्रचार धर्म के नाम पर भी करना शुरू कर देते हैं। यह बहुत बड़ी गलती है। धर्म में छुआछूत का कहीं कोई स्थान नहीं है। छुआछूत की भावना से धर्म बदनाम तो होता ही है, साथ-ही-साथ इसमें फूट भी होने लगती है। प्रायः लोग रिलीजन को भी धर्म कह देते हैं। रिलीजन अंग्रेजी का शब्द है। इसका हिन्दी रूपांतर धर्म नहीं होता है। इसलिए हिन्दू धर्म का अर्थ हिन्दू रिलीजन नहीं हो सकता है।

(घ) **मोक्ष पुरुषार्थ**— 'मोक्ष' शब्द संस्कृत के 'मुच्' शब्द से बना है जिसका अर्थ होता है त्यागना, छोड़ना या मुक्त होना। सभी प्रकार के सांसारिक बंधनों को त्यागना या उससे मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष है।

चारों पुरुषार्थों में धर्म यदि आधार-भूत पुरुषार्थ है तो मोक्ष परम पुरुषार्थ। पूर्व के तीनों पुरुषार्थ व्यक्ति को इसी अन्तिम लक्ष्य या पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए तैयार कर अग्रसर करता है। यह मनुष्य का श्रेष्ठतम् लक्ष्य है जो जीवन को सभी अर्थों में सफल करने के लिए आवश्यक है। इसकी प्राप्ति से मनुष्य को अखण्ड अनुभूति होती यों है।

तो सभी पुरुषार्थ शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा द्वारा निर्मित मनुष्य के सुख के लिए ही प्रयत्नशील हैं, फिर भी अन्य तीन पुरुषार्थों से जहाँ व्यक्ति को आनन्द की प्राप्ति होती है, वहाँ मोक्ष की प्राप्ति से परमब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इससे परम आनन्द की प्राप्ति होती है। यद्यपि काम, अर्थ और धर्म पुरुषार्थों का पालन आसान है, परन्तु मोक्षका पालन कठिन है। इसके लिए साधना की आवश्यकता है।

मोक्ष की प्राप्ति के क्रम में व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि मै भी ईश्वर का एक अंश हूँ। यहाँ अनेकता का सम्पर्क एकता (ईश्वर) के साथ स्थापित होता है। द्वितीय चरण में, व्यक्ति यह महसूस करता है कि जो अंश मुझमें है वही दूसरे में भी है। इस परिस्थिति में व्यक्ति स्व की परिधि से बाहर निकलता है। तीसरे चरण में, वह समझता है कि हम सभी प्राणी एक ही ईश्वर की अंश हैं। यहाँ एकता कायम होती है। अन्त में, अद्वैत की स्थिति आती है और व्यक्ति समझता है कि जो गुण मुझमें है वही ईश्वर में भी है। इसलिए मैं ही ईश्वर हूँ। यहाँ ईश्वर से व्यक्ति का तादात्म्य सम्बन्ध जुटता है। भक्त और भगवान् का एकाकार होता है और परम एकात्मता कायम होती है। यही मोक्ष या जीवन लक्ष्य है।

इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीन मार्ग बतलाए गए हैं—कर्म-मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। मनुष्य के कर्म का सम्बन्ध शरीर से होता है। ज्ञान का उदय बुद्धि से तथा भक्ति का ज्ञान मन में होता है। इसलिए कर्म मार्ग का सम्बन्ध शरीर से, ज्ञानमार्ग का बुद्धि से तथा भक्ति मार्ग का सम्बन्ध मन से होता है। परन्तु, इन तीनों मार्गों का जैसे-तैसे पालन करने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती है। इसके लिए तो यहभी आवश्यक है कि इनका पालन निष्काम-भाव से किया जाए। इसलिए भक्ति समन्वित, ज्ञानयुक्त निष्काम कर्म से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

चारों पुरुषार्थों के अलग-अलग वर्णन से यह नहीं समझना चाहिए कि इनमें अपसी अलगाव है। इन चारों पुरुषार्थों का आपसी

सम्बन्ध है। सबों का उद्देश्य एक है ? वह है एक सुसंगठित तथा सचरित्र मनुष्य का निर्माण। इन चारों पुरुषार्थों के द्वारा निर्मित मानव ही हमारी आराधना का उद्देश्य है।

दीनदयाल जी चाहते थे कि एक सुदृढ़ और सुसंस्कृत विश्व का निर्माण हो जिसके लिए सही ढंग से मनुष्य का निर्माण आवश्यक है। मनुष्य की रचना ठीक ढंग से हो जाने पर विश्व की सही रचना आसान है। मानव का मानचित्र जोड़ देने पर विश्व का मानचित्र स्वतः जुट जाएगा। इसलिए सर्वप्रथम व्यक्ति को ही ठीक किया जाए जिसके आधार पर फिर सुनहला विश्व का निर्माण हो।

×

४

समष्टि के अंग तथा पुरुषार्थ

समष्टि के अंग :

व्यक्ति-निर्माण के बाद समष्टि या विश्व निर्माण की प्रक्रिया शुरू होती है। व्यक्ति की तरह विश्व के भी रचक तत्व होते हैं, जिससे इसकी रचना होती है। फिर, व्यक्ति की तरह उसका भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। इनका अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

(क) **परिवार**—परिवार सामाजिक जीवन की प्रथम पाठशाला कहा गया है। व्यक्ति का जन्म परिवार में होता है। परिवार व्यक्ति से ही बनता है। इसलिए व्यक्ति और परिवार में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति का जन्म से लेकर मरण तक परिवार के साथ सम्बन्ध होता है। यहीं से उसके भरण-पोषण तथा शिक्षा-प्राप्त करने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

यह समष्टि का महत्वपूर्ण अंग है। इसकी कुछ विशेषताएँ हैं जिनके चलते यह महत्वपूर्ण इकाई समझी जाती है। परिवार में बच्चों का जन्म होता है। उसका लालन-पालन, भरण-पोषण आदि सभी कार्य परिवार ही संपादित करता है। एक परिवार के सभी सदस्य एक समान होते हैं। उनका स्तर एक होता है। सबों का भरण-पोषण समान होता है। सभी सदस्य अपना सुख और दुःख आपस में बाँट लेते हैं। इसमें बेरोजगार, अपंग, रोगग्रस्त, बृद्धा, आदि व्यक्तियों को भी शरण मिलती है।

परन्तु, पाश्चात्य और कम्युनिस्टिक देशों में परिवार के ऊपर कुठाराघात हुआ है। फलस्वरूप वहाँ परिवार की व्यवस्था चरमरा गई है इसका असर भारत जैसे देशों पर भी तेजी से बढ़ता देखा जा रहा है।

परिणामस्वरूप परिवार में टूटन शुरू हो गया है। परिवार के टूटने के मुख्य तीन कारण देखे जा रहे हैं—

व्यक्ति स्वातंत्रता– परिवार का कोई सदस्य यदि इतना धनोपार्जन करने लगता है जो उस परिवार के अन्य सदस्यों से अत्यधिक है तो वह परिवार के अन्य सदस्यों की तुलना में अधिक विकास करना चाहता हैं। इसलिए वह परिवार की चिन्ता छोड़ अपनी सुख-सुविधा के लिए अपनी डफली अपना राग अलापने लगता है। यही कारण है कि परिवार टूट जाता है।

कम्युनिज्म यह विचारधारा परिवार को पूंजीवादी व्यवस्था का एक अंग मानता है। इसका सिद्धांत है कमानेवाला खायेगा। इसके अनुसार परिवार के बेरोजगार, वृद्धा तथा अपग व्यक्तियों के लिए समाज में कोई जगह नहीं है।

कल्याणकारी राज्य—यह एक ऐसी राज्य-व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति के भरण-पोषण से लेकर शिक्षा-दीक्षा आदि सबों का प्रबंध राज्य ही करता है। इसलिए इन कार्यों के लिए परिवार की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है

परन्तु, परिवार-व्यवस्था के टूटने से समाज को बहुत क्षति है। यह एक स्थाई व्यवस्था है। पाश्चात्य, साम्यवादी या कल्याणकारी राज्य-व्यवस्था स्थायी नहीं हो सकती है। इसलिए पारिवारिक कल्पना को विकसित करना आवश्यक है।

(ख) समाज—समष्टि का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग समाज है। व्यक्ति के लिये परिवार के बाद समाज की ओर अग्रसर होना आवश्यक है। विचारकों के सामने एक समस्या है कि व्यक्ति और समाज में कौन आगे है ? व्यक्ति या समाज ? कुछ विचारकों के अनुसार चूंकि व्यक्ति समाज में ही जन्म लेता है, इसलिये समाज व्यक्ति से आगे है, परन्तु, दूसरे दल के अनुसार व्यक्ति से ही समाज का निर्माण हुआ है। इसलिए व्यक्ति समाज से आगे है।

परन्तु, व्यक्ति और समाज के आगे और पीछे का झगड़ा बिल्कुल गलत है। व्यक्ति से ही समाज बनता है तथा समाज में ही व्यक्ति जन्म लेता है। इसलिए व्यक्ति और समाज में आगे और पीछे का सम्बन्ध नहीं है। इनमें तो अन्योन्याश्रय संबंध है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का निखार समाज में ही होता है। यदि कोई श्रोता न रहे तो वक्ता कामहत्व ही नहीं रहेगा। फिर, सच्चा और सुसंस्कृत व्यक्ति से ही संगठित और संस्कृत समाज का निर्माण संभव है। एकात्मक मानव-दर्शन सुदृढ़ व्यक्तित्व के निर्माण के द्वारा सुदृढ़ समाज के निर्माण की शिक्षा देता है। अतः हमें अपना हित और अहित की चिन्ता करते हुये सामाजिक हित और अहित की भी चिन्ता करनी चाहिये। तभी सामाजिक एकता और समाज कल्याण का विचार सफल होगा।

समष्टि के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा

समष्टि के परिवार और समाज की व्यवस्था के बाद यह भी जान लेना आवश्यक है कि जिस प्रकार व्यक्ति को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है, ठीक उसी प्रकार समष्टि के भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। समष्टि का शरीर होता है। देश राष्ट्र की भूमि तथा उस पर निवास करनेवाला परम्परा से चला आ रहा जनसमूह ही उस राष्ट्र का शरीर है। समष्टि का मान होता है सामूहिक संकल्प या जनसमूह की इच्छा। राष्ट्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए बनाया गया नियम ही उस राष्ट्र का धर्म है। इसे राष्ट्रधर्म कहा जाता है। फिर, प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक उद्देश्य होता है। वह उस राष्ट्र का जीवन-लक्ष्य कहलाता है। इसी की पूर्ति के लिए राष्ट्र सतत् प्रयत्न-शील रहता है। यही समष्टि की आत्मा है। दीनदयाल जी का ऐसा विश्वास था कि मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की तरह प्रत्येक संगठन तथा विश्व का भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। यहाँ तक कि 40 लोगों के एक क्लब का भी शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होती है। 40 लोगों का क्लब में 40 लोग क्लब के शरीर हैं। क्लब कायम करने की इच्छा संकल्प क्लब का मन है। क्लब चलाने के कुछ नियम होते हैं, ये नियम क्लब की बुद्धि है। इसी प्रकार, प्रत्येक क्लब का एक उद्देश्य होता है। क्लब का उद्देश्य ही उसकी आत्मा है।

समष्टि के पुरुषार्थ :

व्यक्ति की तरह समष्टि के भी पुरुषार्थ होते हैं। ये हैं—काम अर्थ, धर्म और मोक्ष। समष्टि के समग्र एवं सही व्याख्या के लिए इनका विचार आवश्यक है।

क) **काम पुरुषार्थ**—किसी भी समाज या राष्ट्र की स्वतंत्रता, स्वावलम्बन, संगठन आदि का स्वरूप उसके काम पुरुषार्थ द्वारा निर्धारित होता है। देश पर युद्ध के समय देशवासियों का सहयोग तथा उनकी सक्रियता, स्वतंत्रता-आन्दोलन का संघर्ष, भारत को पुनः अखण्डित करने की जिज्ञासा, आदि राष्ट्र के काम पुरुषार्थ हैं। इस पुरुषार्थ की प्राप्ति धर्म के आधार पर करना चाहिए।

समष्टि के काम पुरुषार्थ के दो प्रकार होते हैं— धर्म विहीन काम पुरुषार्थ तथा धर्माधिष्ठित काम पुरुषार्थ। धर्म विहीन काम पुरुषार्थ से देश का मनोबल टूटता है। उसका चरित्र गिरता है और वह रसातल की ओर अग्रसर होता है। चीन द्वारा जब लद्दाख पर आक्रमण हुआ तो देश का एक बड़ा हिस्सा चीन के कब्जे में चला गया। पूरा देश शोकग्रस्त हो गया। पंडित जवाहर लाल नेहरु ने देशवासियों को यह कह कर ढाढ़स बँधाने का प्रयास किया कि "लद्दाख चीन के कब्जा में जाने से भारत को कोई विशेष क्षति नहीं हुई है। कारण वह एक ऐसा वीरान क्षेत्र है, जहाँ कुश (घास) भी नहीं उगता है।" संकट के समय एक प्रधानमंत्री का ऐसा वक्तव्य धर्म विहीन काम पुरुषार्थ कहलायेगा। इससे देश के नागरिकों में असंतोष की भावना जगती है। इसके साथ-ही-साथ स्वतंत्रता को भी खतरा पहुँचने का भय रहता है।

इसके अतिरिक्त ईसाई देशों से आने वाला पेंट्रोडॉलर (पैसा) और उसके द्वारा किया जा रहा धर्म परिवर्तन, इराक द्वारा बलात् कुवैत पर कब्जा आदि भी धर्म विहीन काम पुरुषार्थ है। इसी प्रकार यदि कोई

सम्पन्न देश किसी दूसरे विपन्न देश को वित्तीय मदद पहुँचाता है और बाद में उस देश की लाचारी का नाजायज फायदा उठाकर उसपर अपना आधिपत्य जमा लेता है तो उसका यह कार्य धर्मविहीन समष्टि का काम पुरुषार्थ कहलाएगा। धर्म विहीन काम पुरुषार्थ राक्षसो तथा कायर प्रवृत्ति है। इससे बचना चाहिए। देश के विकास, खुशहाली और उसकी स्वतंत्रता के लिए समष्टि के धर्माधिष्ठित काम पुरुषार्थ का पालन आवश्यक है। विपत्ति के समय दूसरे देश को मदद करना, लड़ाई के समय सेना में भर्ती होना, स्वतंत्रता को जन्मसिद्ध अधिकार समझना, दूसरों की जमीन को हड़पना पाप समझना आदि धर्माधिष्ठित काम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार, समष्टि के काम पुरुषार्थ का पालन धर्म के आधार पर ही करना चाहिए।

(ख) **अर्थ पुरुषार्थ**—अर्थ को आवश्यकता सबों को होती है चाहे वह व्यक्ति हो या समाज। यही कारण है कि व्यक्ति की तरह समाज के लिए भी अर्थ पुरुषार्थ आवश्यक है। बिना अर्थ के सामाजिक विकास असंभव है। जहाँ अर्थ की चर्चा होती है वहाँ उसकी कमी तथा अतिपर्याप्त के कारण होने वाले परेशानियों को भी ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। हमें अर्थ के अभाव और प्रभाव दोनों से बचना चाहिए। अर्थ के अभाव में किसी देश को दूसरे देशों से कर्ज लेना पड़ता है। कर्ज लेने से वह देश दूसरे का कृपा पात्र बनता रहता है। उसकी स्वातंत्र्यता तथा उसका विवेक क्षीण हो जाता है। फलस्वरूप वह देश गुलामी या अवनति की ओर अग्रसर हो जाता है।

अर्थ के अभाव के साथ-साथ अर्थ का प्रभाव भी देश के लिए खतरनाक है। वह देश को अर्थिक युग की ओर ले जाता है। इस स्थिति में पैसा ही सब कुछ हो जाता है। गलत ढंग से पैसा कमाने की लत लग जाती है, क्योंकि इसी से सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अर्थ के प्रभाव होने पर ईमान भी पैसा पर बिकने लगता है। देश के बड़े-बड़े नेता तथा पदाधिकारी भी पैसा कमाने के लिए विदेशों के एजेन्ट बन बैठते हैं। यहाँ अर्थोपार्जन साध्य बन जाता है। अर्थ को सदा साधन ही समझना चाहिए।

अर्थ पुरुषार्थ भी दो प्रकार के होते हैं – अधर्म अर्थ पुरुषार्थ और धर्म अर्थ पुरुषार्थ। विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए गाय की आँत भेजी जाती है। मेढ़क की टांग का निर्यात किया जाता है। यह अधर्म पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए शराब बेचना गाय कटवाना, लॉटरी (जुआ) लगवाना, आदि भी समष्टि का अधर्म अर्थ पुरुषार्थ है। इसके विपरीत ईमानदारी और परिश्रम से किया गया अर्थोपार्जन ही समष्टि का धर्म अर्थ पुरुषार्थ कहलाता है। अधर्म अर्थ पुरुषार्थ की त्याग और धर्म अर्थ पुरुषार्थ का स्वागत ही देश को महान बना सकता है। इसलिए सबों को परिश्रम कर अर्थोपार्जन करना चाहिए, किसी को भी बेकार नहीं रहना चाहिए। देश की शासन-व्यवस्था को चाहिए कि वह अपने देश के एक भी व्यक्ति को कर्मविहीन नहीं रहने दें। सबों को योग्यतानुसार काम दें। ताकि पूरे देश के नागरिक एक साथ परिश्रम के द्वारा देश की तरक्की करें। काम के बदले बेकारी का भत्ता की प्रथा से देश कमजोर होता है। इस प्रथा को समाप्त कर 'हर हाथ को काम और हर खेत को पानी' के सिद्धांत पर अमल करना होगा।

(ग) **धर्म पुरुषार्थ**—समष्टि में विभिन्नता होती है। विभिन्नता में एकता कायम कर जीवन को सुचारु रूप से चलाने वाला नियम या आचार संहिता ही समष्टि का धर्म पुरुषार्थ है। देश विभिन्न प्रकृति और प्रवृत्तियाँ होती हैं। यहाँ के लोग भी विभिन्न प्रकृति के होते हैं। इनका अलग-अलग रोजगार भी होता है। कोई अन्न उगाता है, तो कोई वस्त्र उत्पादन करता है। कोई दवा बनाता है, तो कोई शासन–व्यवस्था संभालता है। परन्तु, प्रत्येक कार्यों में सबों का आपसी सहयोग होता है। यही राष्ट्रीय धर्म है। युद्ध के मैदान में कोई अकेले नहीं लड़ता है। इसमें देश के सम्पूर्ण नागरिकों का सहयोग होता है। देश पर संकट की परिस्थिति में प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होता है कि वह हर कुर्बानी का देकर देश को बचाये। इसके लिए क्या सेना, क्या किसान, सभी अपने-अपने क्षेत्र में परिश्रम की गति को बढ़ाकर सामूहिक रूप से देश को संकट से बचाते हैं। यही राष्ट्रीय धर्म है।

1942 में स्वतंत्रता आन्दोलन में कम्युनिस्टों द्वारा अंग्रेजों का साथ देना राष्ट्रीय धर्म विरोधी कार्य था। ईमानदारी से मातृभूमि की रक्षा का संकल्प लेना राष्ट्रीय धर्म है। इस पुरुषार्थ को हम राष्ट्रीय जीवन में अखण्ड भारत, हिन्दू राष्ट्र आदि से विभूषित कर सकते हैं। वन्दे मातरम्, स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, स्वयं हिन्दू राष्ट्रीय भूता, आदि राष्ट्रीय धर्म वचन हैं।

(घ) **मोक्ष पुरुषार्थ**—व्यक्ति के मोक्ष की तरह समष्टि का भी मोक्ष होता है। प्रत्येक राष्ट्र की एक अपनी आत्मा होती है। वह राष्ट्रीय लक्ष्य या उद्देश्य जिसके लिए राष्ट्र निर्मित होता है या जिसकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील रहता है, राष्ट्र की आत्मा कहलाती है। इसे 'चिति' भी कहा जाता है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के पास परम आत्मा की प्राप्ति का लक्ष्य होता है जिसके लिए वह प्रयत्नशील रहता है, ठीक उसी प्रकार राष्ट्र का भी अपना एक लक्ष्य होता है। वह है 'चिति' की अभिव्यक्ति या साक्षात्कार। दीनदयाल जी ने स्वयं कहा है—"प्रत्येक राष्ट्र उस परम सत्ता द्वारा नियत किए जीवन कार्य को ही लेकर जन्म लेता है। इस कार्य की पूर्ति के लिए अपनी सारी शक्ति लगा कर प्रयत्न करना ही उस राष्ट्र के विकास की सर्वोत्तम एवं एकमेव साधना है।" परन्तु किसी के अधीन या गुलामी में रहकर राष्ट्रीय-मुक्ति की कल्पना तक बेकार है। इसके लिए आवश्यक है कि देश स्वाधीन हो। स्वाधीनता या स्वतंत्रता प्राप्त राष्ट्र को ही सोचने, समझने, तथा विचार करने का अवसर होता है। पराधीन राष्ट्र का न तो अपनी आत्मा होती है और न ही उसका कोई संकल्प होता है। इच्छा संकल्प के अभाव में किसी राष्ट्र को उसके जीवन-लक्ष्य की अभिव्यक्ति करना मुश्किल होगा। इसीलिए दीनदयाल जी ने राष्ट्र की मुक्ति के लिए स्वराज्य को पहला शर्त्त माना है।

दीनदयाल जी समष्टि के मोक्ष में विश्वास करते थे। उनके अनुसार व्यक्ति को मोक्ष तब तक संभव नहीं है जब तक कि पूरा राष्ट्र मुक्त न हो जाए। कुछ लोग मोक्ष को पूर्ण रूप से वयक्तिक मानते हैं। इनकी धारणा होती है कि अपने प्रयत्नों से व्यक्ति मुक्त हो जाता है। मुक्ति के बाद वह सूनसान जगह या पहाड़ की गुफाओं में जीवन बिताता है। वह वहाँ भगवत् भजन में लगा रहता है। अर्थात् वह मुक्त होकर समाज से अलग हो जाता है। परन्तु, ज्ञात होना चाहिए कि मुक्ति इतना आसान नहीं है जो कि पूरा राष्ट्र को जैसा-तैसा छोड़कर अकेले प्राप्त किया जा सके।

आद्यपुरुष का यह विचार डा० राधाकृष्णन के मोक्ष विचार से मिलता है। राधाकृष्णन का दर्शन भी समाज की मुक्ति में ही विश्वास करता है। इनके अनुसार जीवन का लक्ष्य सामाजिक मुक्ति ही होता है। कोई व्यक्ति अकेले मुक्ति प्राप्त कर समाज को यों हि छोड़कर मुक्त नहीं हो सकता। इसके लिए तो आवश्यक है कि वह पूरे समाज को मुक्त करे। सामाजिक मुक्ति की प्रक्रिया बताते हुए इनका कहना है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होता है कि वह मुक्ति प्राप्त करे। परन्तु, अपनी मुक्ति को प्राप्त कर अपने को मुक्त समझकर वह समाज से अलग न हो जाए। उसका कर्त्तव्य होता है—बचे हुए व्यक्तियों को मुक्ति मार्ग पर अग्रसर करना। जिस व्यक्ति को मोक्ष-प्राप्ति में कठिनाई हो रही हो उसकी कठिनाई को दूर कर उसे मुक्त करवाना। इस प्रक्रिया का अन्त पूरे समाज को मुक्त होने पर ही होगा।

हिन्दुस्तान के संदर्भ में यदि कहा जाए तो चार पुरुषार्थों से युक्त सुसंगठित, सुसंस्कृत, समृद्ध, प्रबल तथा एकात्म हिन्दू राष्ट्र की कल्पना को साकार करते हुए, समस्त राष्ट्रों को एक नया मार्ग दिखाना ही समष्टि का मोक्ष है। आज विश्व को सम्राट अशोक की 'अहिंसा नीति' तथा स्वामी रामकृष्ण परमहंस के 'सर्व धर्म समभाव' की नीति की आवश्यकता है। इन नीतियों पर चलकर ही एकात्मता के आधार पर उसे परमाणु-शक्ति के द्वारा होने वाले ताण्डव-नृत्यों से बचाया जा सकता है। इस दिशा में पहल के लिए विदेशों की आँखें भी भारत की ही ओर लगी हुई हैं।

एकात्म मानववाद एक ओर तो व्यक्ति की सही रचना करता है तो दूसरी ओर समष्टि का। दोनों सुदृढ़ रचनाओं के बाद दोनों में एकात्म (एक ही आत्मा का) संबध स्थापित करता है। फलस्वरूप विश्व मानवता की स्थापना होती है। जिसके द्वारा विश्व के प्रत्येक लोगों में भाईचारा का संबंध स्थापित होता है। सभी राष्ट्रों में एकता होती हैं। एक की परेशानी दूसरों की परेशानी समझी जाती है। मानव-मानव एक समान, परम पिता की सब सन्तान की भावना जगती है। पूरा विश्व एक साथ बैठकर सामूहिक सुख की चिन्ता करता है। मानवता की रक्षा का संकल्प लेता है। एक नये समाज की रचना होती है। यही एकात्म मानववाद का उद्देश्य है।

५

वर्ण तथा आश्रम-व्यवस्था

1. वैयक्तिक-जीवन की चार अवस्थाएँ : आश्रम-व्यवस्था :

व्यक्ति के जीवन को संयमित रूप से विकसित करने के लिए भारतीय आचारशास्त्र में चार आश्रमों की व्यवस्था की गई है। ये आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास। मनुष्य का सम्पूर्ण-जीवन इन्हीं चार अवस्थाओं में विभक्त है। आश्रमों की व्यवस्था उपनिषद्-काल में की गई है।

(क) **ब्रह्मचर्य-आश्रम**—मनुष्य की आयु का यदि 100 वर्ष माना जाए तो 25 वर्ष तक की प्रारंभिक अवस्था ब्रह्मचर्य का होता है। इस अवस्था में मनुष्य के ऊपर कुछ ऐसे संस्कार पड़ते हैं, जिनसे उनका जीवन उज्ज्वल होता है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन, इन्द्रिय-निग्रह, व्यायाम, संध्या, भिक्षाटन, गुरुसेवा, विद्याध्ययन आदि ब्रह्मचर्य-आश्रम के मुख्य धर्म माने गये हैं।

प्राचीन-काल में इसका पालन आवश्यक था। इस अवस्था में व्यक्ति विवाह नहीं करता था। पढ़ने के लिए गुरु की कुटिया में जाना पड़ता था। उस कुटिया के नियम ऐसे होते थे जिनका पालन कृष्ण हो या सुदामा दोनों को एक साथ समान रूप से करना पड़ता था। शिष्य को भोजन के लिए भिक्षाटन करना पड़ता था। उसी भिक्षाटन के अन्न या फल से गुरु को दक्षिणा भी दिया जाता था। नित्य-क्रिया, संध्या-वंदना, व्यायाम आदि के नियमों का कड़ाई से पालन किया जाता था। इस अवस्था में छुआछूत, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच आदि का कोई भेद नहीं होता था। सभी व्यक्ति समान होते थे। एकता की भावना उनमें प्रबल होती थी।

पाश्चात्य जीवन से यदि इस आश्रम-व्यवस्था की तुलना की जाए तो यह व्यवस्था अति उत्तम सिद्ध होगा। आज विद्यार्थियों को पढ़ने के लिए बड़े-बड़े स्कूल-कॉलेज होते हैं। रहने के लिए भव्य छात्रावास होता है। कोई छात्र पैदल पढ़ने आता है तो कोई कार से। किसी का कपड़ा हजार रु० का है तो किसी का फटा हुआ। इसी प्रकार से खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार तथा अन्य क्रिया-कलापों में भी प्रत्येक विद्यार्थियों में अन्तर देखा जाता है। आश्रम के गुरु शिष्य के लिए भगवान से भी ज्यादा आदरणीय होते थे। परन्तु, आज गुरु यदि सड़क

पर पैदल जाते रहते हैं तो कार पर सवार शिष्य फर्राटेदार रफ्तार में आता है और अपनी कार के पहियों से सड़क का कीचड़ गुरु पर उछाल देता है। शिष्य के प्रति आज गुरु का भी लगभग यही आचरण है।

भारत अपना स्वर्णिम-युग को भूलकर आज पाश्चात्य धारा में बहता जा रहा है। यही कारण है कि समाज का नक्शा बदलता जा रहा है। समाज जुड़ने के बजाए टूटता चला जा रहा है। व्यक्ति के चरित्र में अन्तर होता जा रहा है। छात्र की अन्य छात्रों से भिन्नता देखी जा रही है। बाल-काल में ही यौन-सम्बन्ध जोड़े जा रहे हैं। छात्र-छात्राएँ सेक्स के प्रति उन्मुक्त दीख रहे हैं। चरित्र-निर्माण के बदले चरित्रहीनता बढ़ती जा रही है। एकता के बदले अनेकता पनप रही है। सब कुछ क्षणिक दिखाई पड रहा है। यदि हमें इसे रोकना है तो ब्रह्मचर्य-आश्रम की धारणा को अपनाना पड़ेगा।

(ख) **गार्हस्थ्य-आश्रम**—ब्रह्मचर्य-आश्रम की शिक्षा के बाद मनुष्य गृहस्थ-जीवन के लायक तैयार हो जाता है। 25 से 50 वर्ष की आयु गार्हस्थ्य-आश्रम की होती है। इस अवस्था में विवाह करना, सन्तानोत्पत्ति करना, यज्ञ तथा कर्मकाण्ड आदि का पालन करना आवश्यक माना जाता है।

सृष्टि का विकास रुके नहीं इसके लिए विवाह करना और सन्तानोत्पत्ति करना आवश्यक समझा गया है। पाश्चात्य विचार-धारा में विवाह का मुख्य उद्देश्य वासनात्मक-भावना की तृप्ति माना जाता है। परन्तु, आश्रम-व्यवस्था में इसका मुख्य उद्देश्य होता है, सन्तानोत्पत्ति करना। आश्रम में भी यद्यपि की मनुष्य सारे भोगों को प्राप्ति कर सकता है, परन्तु उसे धर्म पर आधारित होना चाहिए। पाश्चात्य विचार स्त्री को भोग की समाग्री मानता है। यहाँ स्त्री और पुरुष को दो यूनिट माना जाता है। परन्तु, भारतीय स्त्री तथा पुरुष को अलग करके नहीं सोचा जा सकता है। ये दोनों एक ही यूनिट के अन्तर्गत आते हैं। दोनों का शरीर दो अवश्य होता है पर-तु, प्राण एक माना गया है। ये एक ही गाड़ी के दो पहिए माने जाते हैं। पाश्चात्य दाम्पत्य-जीवन क्षण-भंगुर होता है। तलाक के बाद वह समाप्त हो जाता है। परन्तु, भारतीय विवाह का दाम्पत्य-जीवन स्थायी होता है। इससे समाज सुदृढ़ होता है तथा मानव-जीवन सफल होता है।

(ग) **वानप्रस्थ-आश्रम**—मानव-जीवन की तीसरी अवस्था वान-प्रस्थ की है। 50 से 75 वर्ष की यह आयु प्रायश्चित, जप, उपवास आदि

के लिए है। गार्हस्थ्य-आश्रम से निकलकर मनुष्य वानप्रस्थ-जीवन-यापन करता है। इस अवस्था में वह ब्रह्मचर्य-आश्रम में प्राप्त ज्ञान पर मनन या चिन्तन करता है। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग-नरक आदि विषयों पर गहन चिन्तन होता है। इसके लिए एकान्त स्थान चाहिए। इसीलिए वह जंगल को अपनी साधना का केन्द्र बनाता है। इस आश्रम में मनुष्य गार्हस्थ्य-आश्रम में किये गये कार्यों पर भी विचार करता है। उसमें उचित-अनुचित का भेद करता है। उचित कार्यों पर गर्व तथा अनुचित व्यवहारों के ऊपर प्रायश्चित करता है। यहाँ वह पूर्ण ज्ञानी का रूप धारण कर लेता है तथा समाज को सही मार्ग पर चलने का मार्ग बतलाता है।

(घ) **संन्यास-आश्रम**—इस अन्तिम अवस्था में मनुष्य गृह-त्यागी बन जाता है और सदा के लिए घर छोड़कर बाहर निकल जाता है। वह पूर्ण रूप से संन्यासी का रूप धारण कर लेता है। इस अवस्था में न तो उसका कोई परिवार होता है, न कोई घर और न ही कोई सम्पत्ति रहती है। सांसारिक मोह-माया का वह त्याग कर देता है। उसमें ममता, लोभ, मोह, द्वेष, ईर्ष्या क्रोध आदि का सर्वथा अभाव रहता है। भिक्षाटन ही उसकी जीविका का एक मात्र साधन रह जाता है। उसका एक मात्र उद्देश्य होता है, मोक्ष अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति करना। मोक्ष-प्राप्त कर वह एकान्त में बैठ नहीं जाता है, बल्कि अन्य लोगों को भी मोक्ष की प्राप्ति में मदद करता है।

सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमों में बाँटना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उपयुक्त होता है। मनोविज्ञान भी मानता है कि मानव-जीवन का पहला भाग ही सीखने तथा अनुभव उपार्जन करने के लिए उपयुक्त है। दूसरे भाग में जब मनुष्य युवा होता है तब उसे विवाहित-जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वह पारिवारिक-जीवन में व्यस्त हो जाता है। फिर, ऐसी अवस्था आती है जब वह अपने जीवन की सफलताओं तथा दोषों पर स्वयं विचार करने लगता है। सफलताओं पर आनन्द और दोषों पर चिन्ता होती है। उसे जीवन की क्षण-भंगुरता का ज्ञान होने लगता है। अन्त में, उसमें विरक्ति की भावना जमती है।

स्पष्टतः आश्रम-व्यवस्था का मूल उद्देश्य व्यक्ति का चरित्र-निर्माण तथा उसका विकास है। मानव-जीवन में स्थायित्व को लाना है। दीनदयाल जी के अनुसार यदि आश्रमों का सही ढंग से अनुपालन किया जाए तो मनुष्य का जीवन व्यवस्थित रूप से संयमित होकर सदा विकास

करता चला जाए। इससे समाज की विभिन्नता को रोककर उसके स्थान पर एकता कायम किया जा सकता है। सभी मनुष्य ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करेगा। सबों का रहन-सहन, पढ़ाई-लिखाई, भोजन, आचार-विचार आदि समान होंगे। युवा होने पर सबों का पारिवारिक-जीवन एक-सा होगा। एक समय आएगा जब मनुष्य अपने गलत कार्यों पर प्रायश्चित करेगा, आध्यात्मिक बातों पर चिन्तन और मनन करेगा। इससे आपसी बैर, द्वेष आदि के भाव मिट जाएँगे। मनुष्य गलत कार्यों को गलत समझ कर उसका परित्याग करेगा तथा सद्‌गुणों को धारण करेगा। संन्यास की अवस्था में वह ईश्वर की प्राप्ति करेगा। स्वयं मोक्ष (ईश्वर को) प्राप्त कर समाज के अन्य लोगों का भी मार्ग-दर्शन करेगा। संन्यासी गुफा या कन्द्रा में अकेले नहीं बैठ जाएँगे बल्कि एक साधारण मनुष्य का जीवन-यापन कर समाज को बुराइयों से दूर रहने, आपसी भिन्नता मिटाने, 'मानव-मानव एक समान परमपिता के सब संतान' की भावना को अपनाने आदि का उपदेश देंगे। इससे समाज में उत्पन्न आपसी वैमनष्यता दूर होगी, विभिन्नता के स्थान पर एकता तथा क्षण-भंगुरता के स्थान पर स्थायित्व आएगा। मानवीय जीवन समानता पर आधारित होगा। भारतीय मूल संस्कृति की रक्षा होगी। व्यक्ति और समष्टि की परस्पर-पूरकता का भाव जगेगा और एकात्म-दर्शन का उद्देश्य सफल होगा।

2. समष्टि के कार्यों का विभाजन : वर्ण-व्यवस्था :

वेद की वर्ण-व्यवस्था वस्तुतः कर्म व्यवस्था है। समष्टि के सभी कार्य सही ढंग से चले इसके लिए समस्त कार्यों को चार भागों में बाँटा गया है। ये चार भाग या चार वर्ण हैं--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रायः लोग इस वर्ण-व्यवस्था को वर्ग या जाति-व्यवस्था मानते हैं। परन्तु, यह उनकी भ्रान्ति है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र --ये कोई जाति नहीं थे, बल्कि समष्टि के कार्यों के चार विभाग थे। यह विभाजन श्रम-विभाजन के नियम पर आधारित था।

ब्राह्मण-वर्ण के अन्तर्गत वैसे लोग आते थे जिनका कार्य ब्रह्म-विद्या का पाठ करना था। स्वयं भी पढ़ना तथा शिष्यों को शिक्षा देना, समाज की गाड़ी ठीक से चले उसके लिए नियम या कानून बनाना, उचित तथा अनुचित कर्मों का वर्गीकरण करना तथा मनुष्य को सही मार्ग पर चलने की सलाह देना, आदि ब्राह्मणों का कार्य था। आज के शिक्षक-वर्ग इसके अन्तर्गत आयेंगे।

क्षत्रिय का कार्य था देश की रक्षा करना । समाज आंतरिक तथा बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहे, इसके लिए सैन्य-बल की आवश्यकता थी । इसके लिए एक विभाग बनाया गया । इसी विभाग को क्षत्रिय-वर्ग कहा गया । इस वर्ण के अन्तर्गत वही व्यक्ति आता था जो शरीर से मजबूत होता था तथा जिसे अस्त्र-शस्त्र का ज्ञान रहता था । आज की सेना तथा पुलिस विभाग इसके अन्तर्गत आते हैं ।

वे लोग जो व्यापार, कृषि-कार्य, चिकित्सा आदि की जिम्मेवारी संभालते थे, वैश्य कहलाते थे । इनका कार्य होता था समाज को रोटी, कपड़ा, मकान तथा आवश्यकता की अन्य समाग्रियों की आपूर्ति करना । रोगग्रस्त लोगों की चिकित्सा करना इनका पुनीत कार्य था । ब्राह्मणों के ग्रंथों तथा क्षत्रियों के अस्त्र-शस्त्र का प्रबंध करना, इन्हीं का कार्य था । आज के कृषक, व्यवसायी, चिकित्सक, अभियन्ता, आदि वैश्य-वर्ण में आते हैं ।

मनुष्य का वह बलशाली वर्ग जो उपरोक्त सभी वर्णों को श्रमदान देते थे, उन्हें शूद्र-वर्ण में रखा जाता था । इस विभाग के लोग कठिन परिश्रम करने वाले होते थे । फलस्वरूप अपने परिश्रम से समाज को लाभान्वित कराते थे । वर्तमान समय में श्रमिक वर्ग चाहे वो खेत में काम करता हो या कारखाना में या प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में, सब-के-सब इसी वर्ण में आयेंगे ।

कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था ने वर्ग या जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर लिया । परन्तु, इसका दोष वर्ण-व्यवस्था को देना अनुचित है । आज जैसी जातिगत धारणा वर्ण-व्यवस्था में नहीं था । वर्ण-व्यवस्था के सही सम्पादन से तो आज भी जाति-प्रथा समाप्त हो सकती है ।

इस व्यवस्था में ऊँच-नीच, छुआछूत आदि की भावना कहीं नहीं दीख पड़ती है । इसके चारो वर्ग के लोगों की जाति एक ही होती थी । उनका धर्म भी एक था । जिस प्रकार से कार्यों के सही ढंग से निष्पादन के लिए एक ही सरकार के कई विभग होते हैं । उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी एक ही समाज के कार्यों का विभाजन है । आज एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से अपना वैवाहिक-सम्बन्ध स्थापित करने से डरते हैं । परन्तु, वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों की लड़की से शूद्रों के लड़के का विवाह होता था । क्षत्रिय के लड़कों से वैश्य की लड़की

का विवाह किया जाता था। इतना ही नहीं शूद्र-वर्ण के लोगों का लड़का यदि वेद विद्या में निपुण होता था तो उसे ब्राह्मण-वर्ण में रखा जाता था। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय-वर्ण के लोगों का लड़का शूद्रों के कार्य के योग्य निकलता था तो उसे शद्र-वर्ण में रखा जाता था। बच्चों को पढ़ाई समान ढंग से होती थी। तदुरान्त वह जिस वर्ण के कार्यों के लायक होते थे उन्हें उसी वर्ण का कार्य मिलता था। इसमें ऊँच-नीच या जाति-व्यवस्था का प्रश्न ही कहाँ उठता है।

स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत कोई त्रुटि नहीं है। आज की जाति-प्रथा का दोष उसपर नहीं लगाया जा सकता है। दीनदयाल जी के अनुसार हजारों वर्षों के उत्थान-पतन के आघातों के कारण आज वर्ण-व्यवस्था में कुछ अकृतियाँ आ गई हैं। परन्तु, इसका मतलब यह नहीं होता कि हम उन विकृतियों को न दूर कर इस प्रथा को ही समाप्त कर द। किसी व्यवस्था में किन्हीं कारणों से यदि कोई दोष उत्पन्न हो गया हो तो इससे पूरी व्यवस्था को ही समाप्त नहीं कर देन चाहिए। उचित तो यह होगा कि उसमें व्याप्त बुराइयों को समाप्त करें। महात्मा गाँधी भी मानते थे कि हमें बुराई से घृणा करना चाहिए, बुरा से नहीं।

दीनदयाल जी का मानना था कि सामाजिक जीवन की विविध आवश्यकताओं में से किसी-न-किसी आवश्यकता को पूरा करने में सहभोगी होकर व्यक्ति के लिए स्वधर्म का पालन करना सुलभ हो और साथ ही अपना विकास करते हुए वह समाज-सेवा के लिए अधिकाधिक समर्थ बने, इसी दृष्टि से हमारे यहाँ वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ है। वर्ण व्यवस्था कर्म व्यवस्था है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य का कर्म बँटा हुआ होता है। सभी कर्म एक दूसरे व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। वर्ण के अनुसार ही सबकाकर्त्तव्य नर्धारित है जिसके पा न से समष्टि का सही विकास होता है।

इस तरह, व्यक्ति-जीवन तथा समष्टि-जीवन का आपस में तालमेल रहे, उसमें स्थायित्व आए, समाज से असमानता मिटे तथा पूर्ण एकता कायम हो, इसी के लिए वर्ण और आश्रम-व्यवस्था का निर्माण किया गया है। यदि हम इसका सही ढंग से पालन करें तो एकात्म-मानववाद के उद्देश्य को पूरा कर सकेंगे।

६
परमेष्ठी विचार

व्यक्ति और समष्टि के चतुर्दिक विकास तथा उनके एकात्म-सम्बन्ध के ज्ञान के बाद परमेष्ठी से उसके सम्बन्ध का ज्ञान भी आवश्यक है। मनुष्य भी प्राकृतिक प्राणी है। परन्तु, उसके अतिरिक्त भी पृथ्वी पर अनेक उपयोगी प्राणियाँ हैं। पेड़-पौधे या अन्य वनस्पति जगत का भी एक अलग अस्तित्व है। यहाँ अनेक प्रकार की खनिज सम्पदाएँ हैं। ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि का भी अपना अस्तित्व है। इन सबों के साथ मनुष्य का क्या व्यवहार हो? इसका भी अध्ययन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त कुछ प्राकृतिक नियम हैं, जिनका पालन विश्व मानवता के लिए आवश्यक है। मानवेतर प्राणियाँ, वनस्पति-जगत, ग्रह-नक्षत्र, भू-सम्पदाएँ, अन्य प्राकृतिक वस्तुएँ तथा प्राकृतिक नियमों आदि के साथ मानव के सम्बन्धों का अध्ययन ही परमेष्ठी विचार कहलायेगा। मानव तथा विश्व का अध्ययन तब तक पूरा नहीं हो सकता है जब तक कि विश्व के अन्य महत्व पूर्ण प्राकृतिक वस्तुओं तथा नियमों के साथ उसका एकात्म-सम्बन्ध कायम नहीं होता। इस सम्बन्ध को हम इस प्रकार देख सकते हैं—

(क) **मानवेतर प्राणियाँ**—मनुष्य प्राणी है। परन्तु, इसके अतिरिक्त भी पृथ्वी पर अनेक ऐसी प्राणियाँ हैं, जो मानवीय-जीवन तथा समष्टि के लिए आवश्यक हैं। इसीलिए पृथ्वी पर उनका बना रहना हमारे लिए लाभदायक है। इसके अस्तित्व को समाप्त होने से हमें कई प्रकार की हानियाँ होती हैं। लोगों की समझ में अनेक जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े ऐसे हैं जो हमारे काम के नहीं हैं। यही कारण है कि आज हम अपनी सुख-सुविधा के लिए तेजी से इनका नाश करते हैं। हमारे इस कार्य से भविष्य में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

आज हम खाल के लिए बाघ का, मांस के लिए हिरण और मोर का टोपी के लिए खरहा का, दाँत तथा हड्डी के लिए हाथी का, खाल और विष के लिये सर्प का, टाँग निर्यात करने के लिए मेढ़क का नाश कर रहे हैं। यहाँ हमें अपना प्रत्यक्ष लाभ ही दिखाई देता है। परन्तु, हम भविष्य में इससे होनेवाले खतरों के प्रति अभिज्ञ हैं।

हमें ज्ञात होना चाहिए कि इन प्राणियों की रचना बेकार नहीं हुई है। इन सबों का अपना-अपना कार्य है, जिससे प्रकृति का सन्तुलन ठीक रह सके। इनके अभाव में प्रकृति का यह सन्तुलन बिगड़ने का भय है। मेढ़क खेतों से कीड़ों का नाश करता है। इसकी कमी के कारण ही

आज फसलों पर कीड़ों का प्रभाव बढ़ गया है। सर्प का भी अपना एक महत्त्व है। यह वायुमण्डल की विषैली हवा को ग्रहण करता है तथा एक दूसरे प्रकार का गैस छोड़ता है, जिससे प्रकृति के अन्दर वायु-सन्तुलन बना रहता है। इसी प्रकार से अन्य प्राणियों का भी अपना-अपना महत्त्व है।

इसी को देखते हुए मानवेतर प्राणियों का महत्व पूजा-पाट में भी दिया गया है। हमारे आराध्य देवी-देवताओं ने इन प्राणियों को अपना वाहन बनाकर हमें उसके महत्त्व को बतलाया है। बाघ दुर्गा का वाहन है बैल महादेव का, मोर सरस्वती का, उल्लू लक्ष्मी का तथा चूहा गणेश क सवारी है। सर्प शंकर के गला की माला है। नाग पंचमी में इसकी पूजा होती है। इन प्राणियों की संगति देवताओं के साथ होना भी इस बात का प्रमाण है कि ये प्राणियाँ प्रकृति के आवश्यक तत्त्व हैं। मनुष्य के लिए ये आवश्यक हैं। इसलिए इनके विनाश को रोकना चाहिए। इनसे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये।

(ख) **वनस्पति जगत्**–वनस्पतियाँ पर्यावरण तथा वर्षा के लिए आवश्यक हैं। विश्व एक ओर तो पर्यावरण के प्रदूषण से परेशान है तो दूसरी ओर अनावृष्टि से। इसका एक मात्र कारण है अंधाधुन्ध पेड़ों की कटाई। पेड़-पौधों को मात्र हम फल-फूल, फर्नीचर तथा जलावन का साधन मान लेते हैं। यही कारण है कि जो वृक्ष फल नहीं दे पाते उन्हें या तो फर्नीचर बनवाने के लिये या जलावन के लिये काट डालते हैं।

परन्तु, हमें जानना चाहिए कि पेड़-पौधों से पर्यावरण सन्तुलन बना रहता है। मनुष्य ऑक्सीजन लेता है और कार्बन-डाई-ऑक्साइड छोड़ता है। पेड़-पौधे इस गैस को ग्रहण करते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं। यदि पेड़ न रहे तो वायुमण्डल कार्बन-डाई-आक्साईड से भर जायेगा। इस गैस की अतिप्रर्याप्तता के कारण मनुष्य को दम घुटन होने लगेगा। फलस्वरूप विनाश नजारा सामने आने लगेगा। इसी प्रकार पेड़-पौधों का ना दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है पृथ्वी पर वर्षा करवाने में मदद करना। पेड़ की लगातार कटाई के कारण ही आज हमें अनावृष्टि का सामना करना पड़ रहा है।

वनस्पति जगत् के अभाव से होनेवाले विनाश के प्रति अचेत करने के लिये ही पेड़पौधों का भी सम्बन्ध देवताओं तथा पूजा-पाठ से जोड़ा गया है। पीपल में ब्रह्मा का निवास माना जाता है। इसमें धागा लपेट कर स्त्री अपने सुहाग की आयु बढ़ाती है। तुलसी की पूजा करने

हैं । सुपारी, आम की पत्ति, चन्दन की लकड़ी, देवदार की लकड़ी आदि का प्रयोग भी पूजा में किया जाता है। इन सबों के द्वारा हमें पेड़-पौधों को सुरक्षा के प्रति अगाह किया गया है। यह बतलाया गया है कि उनकी पूजा या सेवा ही हमारा भविष्य सुरक्षित है। पेड़-पौधों की हमारी मदद की आवश्यकता है। उसे हम सुरक्षित रखें जिससे वह भी हमें सुरक्षा दे सके।

(ग) **भू-सम्पदा** प्रकृति के अन्दर अनेक प्रकार की भू-सम्पदाएँ हैं। ये सब के सब मनुष्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं। इनके अभाव में हमें काफी परेशानी का सामना करना पड़ सकता है। भू-सम्पदा चाहे कोयला हो या तेल या अन्य पदार्थ, सबों की एक सीमा है। इसलिए इनकी खपत में हमें सावधानी से काम लेना होगा। आज देखा जा रहा है कि पेट्रोल, डीजल या मिट्टी का तेल, सभी की खपत हम अंधाधुन्ध कर रह हैं। ऐसा लगता है कि इनका प्रयोग हम अपनी आवश्यकताओं के हिसाब से नहीं कर रहे हैं। बल्कि इन्हें किसी प्रकार से खर्चा करना है सोच कर हम खपत कर रहे हैं। कोयला भी इस प्रकार से जलाया जा रहा है ताकिउसे जल्द से जल्द खर्चा करना है। खेतों में तरह-तरह के रासायनिक पदार्थ डालकर उससे अधिक अन्न प्राप्त करने को होड़ है। इसका परिणाम यह हो रह है किहमारी भू-सम्पादाओं का भण्डार खाली होती चली जा रही है। खेतों की उर्वक-शक्ति कमजोर होती चली जा रही है। परिणाम क्या होगा ? इसकी कोई चिन्ता नहीं है। यह स्थिति मानवता के लिए विनाशकारी सिद्ध हागी।

इस विनाशकारी स्थिति से बचने के लिए हमें चाहिए किअपनी खनिज-सम्पदा या अन्य भू-पदार्थों में इस्तेमाल जरा संभाल कर दिया जाए। जो सम्पादा सीमित है उसके इस्तेमाल में होशियारी रखनी चाहिए। हमें तेल, कोयला या अन्य पदार्थों या जमीन का इस्तेमाल इस प्रकार से करना चाहिए ताकि वह कालान्तर तक चल सके। कम से कम चीजों को खपत कर अधिक से अधिक शक्ति उत्पन्न करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हमें प्रकृति का पोषण करना चाहिए, उसका शोषण नहीं। इसी से मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी।

(घ) **प्राकृतिक नियम**—मनुष्य का जीवन सुखमय हो तथा उसका चतुर्दिक विकास हो सके इसके लिए प्रकृति की ओर से हमें कुछ नियम बतलाये गये हैं। इन नियमों का सही पालन आवश्यक है। इनके विरुद्ध कार्य करने से मानवीय जीवन के विकास के मार्ग में रुकावट आ जाती

है। प्रकृति ने प्राणियों को यौन-प्रवृति भी दी है। परन्तु, इसकी सीमा होती है। सीमा का अतिक्रमण करने से मानवता को गहरा आघात लगने का भय है।

स्वीडन जैसे कुछ देश ऐसे भी हैं जहाँ यौन-सम्बन्ध को मात्र जैविक-संतुष्टि के रूप में देखा जा रहा है। लड़के-लड़कियों के बीच कोई बन्धन नहीं है। वे खुलकर सरेआम यौन-क्रिया कर रहे हैं इस क्रिया में अतिलिप्तता के कारण एक भयंकर दुष्परिणाम सामने आ रहा है। लोगों की प्रजनन-शक्ति क्षीण होती जा रही है। फलस्वरूप वहाँ सन्तानोत्पत्ति करना एक समस्या बन गई है। देश की जनसंख्या पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा है।

देश के बुद्धिजीवियों के द्वारा जगह-जगह पर संगोष्ठी की जा रही है। लोग व्यग्रता पूर्वक विचार कर रहे हैं कि आखिर लोगों प्रजनन-शक्ति को कैसे ठीक किया जाए ? यदि समय रहते नहीं सम्भल सके तो एक समय आएगा जब इन देशों में केवल वृद्ध ही रह जाएँगे। बच्चे कहीं दिखाई नहीं पड़ेंगे।

मानवेतर प्राणियाँ, वनस्पति जगत्, भू-सम्पदा, प्राकृतिक नियम या प्रकृति की अन्य वस्तुओं के साथ मानवीय व्यवहार उचित नहीं रहने के कारण ही हमें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। यदि अभी भी नहीं ध्यान दिया गया तो भविष्य इससे भी भयंकर होगा। वर्त्तमान का कष्ट तथा भविष्य की भयंकरता को ध्यान में रखते हुए हमें चाहिए कि प्राकृतिक वस्तुओं के साथ भी एकात्मता का संबंध जोड़ा जाए। मानवेतर प्राणियों की रक्षा, वनस्पतियों की अंधाधुन्ध कटाई पर रोक, भू-सम्पदा की युद्ध-स्तर पर खपत पर रोक, प्राकृतिक नियमों का पालन के साथ-साथ ग्रह-नक्षत्रों, तारे आदि के नियमों का पालन भी हमारे विकास तथा सुखी जीवन के लिए आवश्यक है।

हमें चाहिए कि प्रकृति का दोहन करें, न कि उसका शोषण। हम दुधारु जानवरों से उतना भर दूध ही लें जिससे कि उसके बच्चे का हिस्सा बचा रह सके। यही दोहन है। परन्तु, यदि हम बच्चे के हिस्से का दूध भी निकाल लेते हैं तो वह दोहन नहीं शोषण होता है। यह प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। दीनदयाल जी ने स्पष्ट कहा है कि "प्रकृति से हमें उतनी ही सामग्री और वह भी इस ढंग से लेनी चाहिए कि उसकी भरपाई प्रकृति अपने आप कर सके। मानव-जीवन तथा उसके विकास

में प्रकृति का बहुत बड़ा योगदान है। परन्तु, उसके योगदान का हमें उससे युद्ध कर, उसे परास्त कर, उसका शोषण कर नहीं प्राप्त करना चाहिए, हमारी भावना यह होनी चाहिए कि मनुष्य तथा प्रकृति दोनों एक दूसरे को अपने काम का समझ सके। मानव प्रकृति-सम्पदा का पोषण एवं संबर्द्धन करे तथा प्रकृति भी मानव का पालन, पोषण और संवर्द्धन करे।" दोनों अपने को सृष्टि का अंग समझें तथा परस्पर-पूरकता के आधार पर एकात्म-संबंध स्थापित करे। इससे व्यक्ति से लेकर समष्टि और परमेष्ठी तक एकात्म-सम्बन्ध स्थापित होता है। इसी सम्बध के आधार पर हम विश्व को विनाश के कगार पर से वापस ला सकते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान भी बताता है किस प्रकार मानव-प्रकृति एवं भावों को अवहेलना से व्यक्ति के जोवन में अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति प्राय: उदासीन एव अनमना रहता है। उसकी कर्म-शक्ति क्षीण हो जाती है। अथवा वह विकृत होकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है। इसी प्रकार राष्ट्र भी प्रकृति के प्रतिकूल चलकर अनेक व्यथाओं का शिकार बनता है।

भारत प्राचीन-काल से ही शान्ति प्रिय देश रहा है। इसलिए विश्व की आंखें इसकी ओर लगी हुई है कि यह किस प्रकार से इस विकट घड़ी में दुनियाँ का मार्ग-दर्शन करता है।

७

पाश्चात्य एवं वामपंथी विचारधारा और एकात्म मानववद

एकात्म मानववाद की व्याख्या के संदर्भ में सर्वप्रथम हमने समाज की रचना के संबंध में कुछ पाश्चात्य एवं वामपंथी विचारधाराओं का अध्ययन किया है। तत्पश्चात एकात्म मानववाद की विस्तृत व्याख्या की है। यहाँ हम दोनों प्रकार की विचारधाराओं को सामने रखकर उसकी तुलनात्मक मूल्यांकन करें तो स्पष्ट होगा कि पाश्चात्य एवं वाम-पंथी विचारधारा से दोनदयाल जो के द्वारा प्रतिपादित एकात्म मानव-वादी विचार भिन्न और उच्च श्रेणी का है।

हमने देखा है कि पाश्चात्य तथा वामपंथी विचारधाराओं का जन्म अशान्ति और प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ है। रोम के धर्माध्यक्ष पोप का पूरा यूरोप पर शासन था। इस धर्म-शासन का विरोध हुआ और प्रतिक्रिया स्वरूप प्रत्येक राष्ट्रों में राजा आया। यहाँ राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। राजाओं की तानाशाही प्रवृत्ति का विरोध हुआ। प्रतिक्रिया

स्वरूप जनतन्त्र की स्थापना हुई। जनतंत्र की असफलता के कारण उसमें पूँजीवाद का समावेश हुआ। फलस्वरूप, सारा पैसा पूँजीपतियों के पास केन्द्रित होने लगा। इससे गरीबों में आक्रोश फैला और समाजवाद या कम्युनिस्टों की व्यवस्था आयी। बाद में यह व्यवस्था भी प्रतिक्रिया और असतोष के घेरे में आ गई। लोग समझने लगे कि यह गरीबों की व्यवस्था नहीं है। सर्वहारा के नाम पर एक खास दल तथा उसके गिने-चुने नेताओं की शासन-व्यवस्था है। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप आज क्या-क्या हो रहा है, हम देख रहे हैं।

प्रतिक्रिया और आक्रोश के ऊपर आधारित राज्य-व्यवस्था अस्थायी होती है। वह कमजोर भी होती है। यही कारण है कि यूरोप के 400 वर्षों का इतिहास जनाक्रोश, अशान्ति, खूनी-क्रांति, संघर्ष एवं अस्थायीपन आदि के बीच ही उलझा रहा। यहाँ घटना क्रम इतनी तेजी से बदलता गया कि कोई शासन-व्यवस्था पैर भी नहीं जमा पाती थी कि वह समाप्त हो जाती थी। बाद में, कम्युनिज्म की स्थिति भी अपने आप में इसी प्रकार की रही। अपने जीवन को छोटे से अन्तराल में ही उसकी जो स्थितियाँ हुई हैं उसका अनुकरण कोई नासमझ भी नहीं कर सकता है। एक देश का दूसरों से टकराव। एक नेता की दूसरे नेताओं से कटुता स्वयं रूस, चीन, वियतनाम आदि देशों के अन्तर्देशीय झगड़े ने इस व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।

पाश्चात्य तथा कम्युनिस्टों की शासन-व्यवस्था को चरमराने का सबसे बड़ा कारण था कि वह राष्ट्र की प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं होती थी। परन्तु, एकात्मक मानववाद प्रत्येक राष्ट्र को अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार विकास करने की स्वतंत्रता का हिमायती है। इस दर्शन में जनाक्रोश और सत्ता के खिलाफ संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता है। यहाँ व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व तक व्यक्ति संगठित और अनुशासित होता है।

पाश्चात्य तथा वामपंथी विचारधाराओं में सबसे बड़ी कमी यह है कि वह मानव-जीवन का विचार टुकड़ों-टुकडों में बाँट कर करता है। परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्वमानवता का विचार अलग-अलग खण्डों में करता है। इनके संकेन्द्री वृत्त को देखकर कहा जा सकता है कि व्यक्ति, परिवार, समुदाय, राष्ट्र, मानवता तथा विश्व का अध्ययन यहाँ गहन रूप से हुआ है। परन्तु, विश्वमानवता के इन सभी रचक घटकों में आपसी तादात्म्यता का अभाव रह जाता है। इनमें कोई आपसी लगाव नहीं होता है। इसके कारण ये पृथक-पृथक ही रह जाते हैं। परिणाम यह होता है कि विश्वमानवता की बात कल्पना मात्र ही रह जाती है।

इसके विपरीत एकात्मक मानववाद की व्यवस्था ऐसी है जिसमें व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवता तथा विश्व से लेकर परमेष्ठि तक एक तारतम्यता होती है। यहाँ व्यक्ति की व्याख्या करते समय परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्वमानवता के साथ उसकी एकात्मता का संबन्ध भी बताया जाता है। इस सम्बन्ध का ज्ञान अखण्ड मंडलाकार वृत्त से स्पष्ट होता है। इस वृत्त में व्यक्ति केन्द्र में अवस्थित है। परन्तु, उसका सम्बन्ध तारतम्य रूप से परिवार, समुदाय, राष्ट्र, मानवता तथा विश्व और परमेष्ठी से होता है।

इस प्रकार, दोनों वृत्तों की सहायता से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य तथा वामपंथी समाज-व्यवस्था में व्यक्ति, परिवार, समुदाय, राष्ट्र, मानवता तथा विश्व को जहाँ पृथक-पृथक मानकर अध्ययन किया गया है, वहाँ एकात्म मानववादीव्यवस्था में तादात्म्यता का संबंध बतलाया गया है। संकेन्द्री वृत्त को प्रत्येक इकाई आपस में अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं, जबकि अखण्ड मण्डलाकार वृत्त के घटकों में कोई अलगाव नहीं है। संकेन्द्री वृत्त अपने घटकों की व्याख्या उनके विकास मात्र को ध्यान में रखकर करता है। परन्तु, अखण्ड मण्डलाकार वृत्त अपने घटकों का अध्ययन करते समय उनके चतुर्दिक विकास के साथ-साथ विश्वमानवता से उनका एकात्म-सबंध को भी ध्यान में रखता है। यही कारण है कि मनुष्य अपने को विश्वमानवता का एक अंग मानता है। वह समझता है कि जो आत्मा मुझमें है वही विश्व के सभी व्यक्तियों में है। इससे विश्व के सभी मानव में एकात्मता कायम होती है। आज विश्व को विध्वंश से बचने का एक मात्र उपाय रह गया है, इस दर्शन का अनुसरण। विश्व को भारत से यही अपेक्षा भी है।

हमें चाहिए कि एकात्म मानववाद के प्रत्येक पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित कर, उसका मनन कर उसकी सामाजिक-व्यवस्था या विश्व मानवता के दर्शन को समझें। इस दर्शन का अपने व्यक्तिगत जीवन तथा राष्ट्रीय हित में पालन करें। व्यक्ति से लेकर विश्व के लोगो में एकात्म-सम्बन्ध स्थापित करें। समाज से अस्थायित्व को समाप्त कर उसमें स्थायित्व का संचार करें। मानवेतर प्राणियों तथा प्राकृतिक जगत् के साथ भी परस्पर पूरकता का संबंध स्थापित करें। स्वयं जीयें और दूसरों को जीने दें। भौतिकता के चकाचौंध में अपनी दृष्टि को संभालें। परमाणु विस्फोट से दुनियाँ को होने वाली क्षति को समझें। पर्यावरण की समस्या पर विचार करें। अद्वैत दर्शन का महत्त्व और सनातन सत्य को पहचाने तथा विश्व को एक नया मार्ग दिखावें।

पाश्चात्य तथा वामपंथी विचारधारा

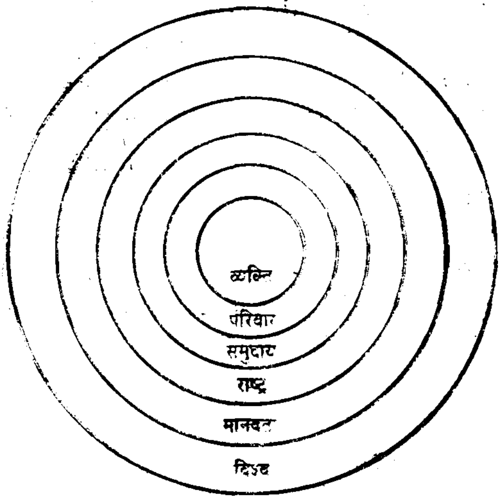

संकेन्द्री रचना

एकात्ममानववादी विचारधारा

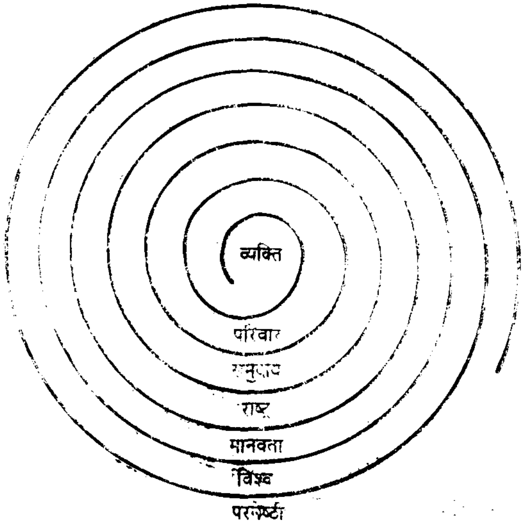

अखंड मंडलाकार रचना